संपादक :

सत्यदेव 'राजहंस'

लय-१

अभिज्ञान-प्रकाशन द्वारा प्रस्तुत

लय-१

[अधुनातन हिन्दी कविता का निर्दिशायामी संकलन]

संपादक

सत्यदेव 'राजहंस'



मूल्य ३·००

मुद्रक—राष्ट्रीय प्रेस, राँची १९६५
आवरण पृष्ठ—सत्यदेव 'राजहंस'
आरूप—देप्रपा

संपादक •

सत्यदेव 'राजहंस'

लय-१

अभिज्ञान - प्रकाशन द्वारा प्रस्तुत •

लय-२

संपादक लय-१ : सत्यदेव 'राजहंस' ।

प्रथम संस्करण : एक हजार प्रतियाँ ।

प्रकाशक : अभिज्ञान प्रकाशन, राँची।

: प्रमुख वितरक : पुस्तक-भवन राँची ।

शाखाएँ :

पुस्तक-भवन, खलीफाबाग, भागलपुर ।

पुस्तक-भवन, गुरुगोविन्दसिंह रोड, हजारीबाग ।

पुस्तक-सदन, खजांची रोड, पटना-४

पुस्तक-सदन, मोतीझील, मुजफ्फरपुर ।

मूल्य ३·०० रु०

कवि काव्य क्रम

लय-प्रकाशन-व्यवस्था 'लय' १ की प्रकाशन-अवधि में प्रकाशित या प्रसारित हो जानेवाली कविताओं के लिए उत्तरदायी नहीं होती।

'लय' (१)—आधारशिला
आधुनिकता की निर्दिशागामी दृष्टि

आधुनिक कविता या आधुनिकता के विषय में किसी भी प्रकार की उद्घोषणा करने के पहले इस बात का संकेत करना जरूरी है कि गत बीस वर्षों में कविता की क्या दुर्गति हो चुकी है ? कई दर्जन कवियों ने कवि-कर्म को अपने ही अनुरूप मोड़ा, तोड़ा और अपना उल्लू सीधा किया। स्पष्ट है कि कई छायावादी, रहस्यवादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवि इस भ्रान्तिपूर्ण परम्परा के पोषक रहे हैं। छंदों के फंदों से पीछा छुड़ाने के बावजूद ये कवि अपनी कृतित्व-क्षमता सिद्ध नहीं कर पाए। निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर हमारे सामने ऐसे कवि आते हैं जिन्होंने सही अर्थ में न अपने ही प्रति ईमानदारी बरती है और न अपने युग के प्रति ही। ऐसे कवियों ने अस्तित्व की जरूरी शर्तों को

भी पश्चिम से उधार लिया। यही इनका कच्चा माल था जिसे पकाते-पकाते अपना मूल भी गँवा बैठे। अर्थात् छायावाद और रहस्यवाद के हरे-भरे भपीले गुल्मों में साँस लेने वाले कवियों की एक बड़ी भीड़ ने सिर्फ एक 'पिकनिकी शौक' पूरा किया। क्या लिख रहे हैं? किसके लिए लिख रहे हैं? इन सब प्रश्नों से उन्हें क्या मतलब? लेकिन खड़ी बोली हिन्दी नए साँचों में ढलती रही, इसमें कोई सन्देह नहीं। श्री जयशंकर 'प्रसाद', पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' (एक निश्चित सीमा तक) तथा अन्य मुट्ठी भर कवियों को छोड़कर; सभी ने राजनीति के वाद्यों की 'संगत' करने में कविता का इस्तेमाल तबले की तरह किया है। इन कवियों का अधिकतर समय केंचुलियों को धारण करने में और उतारने में लगता रहा है। प्रसादजी ने वास्तव में, अपने युग की कराह सुनी। उन्होंने औद्योगीकरण की चिमनियों से निकले धुएँ में लोगों को आँख मलते भी देखा। इसलिए आज के आदमी को आस्था का मजबूत पुल उन्होंने दिया। उसके अन्दर छिपे पशुत्व को वासना की चिनगारी से अवश्य छूआ किन्तु उसका प्रतीकात्मक समाधान मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया जो विश्व-साहित्य की एक अद्वितीय तथा विलक्षण घटना है। कामायनी के मनु को उन्होंने अपनी कलम की नोंक पर रख कर 'चिन्ता' की गहराई से उठाकर 'आनन्द' की ऊँचाई तक पहुँचा दिया है। कवि अपने समय में ही सम्पूर्ण गोलाकार भूमंडल के ऊपर अन्तर्दृष्टि लेकर बैठता है, इसीलिए वह उसके परे भी अनाश्चर्यरूप से देख लेता है। वैज्ञानिक सुविधाओं की वह उपेक्षा नहीं करता किन्तु उनकी ज़रूरत को अपने ऊपर हावी भी नहीं होने देता। किस स्थिति-विशेष में कौन-से क्षण की नोंक किस साँस पर खरोंच लगा जाएगी, इसकी निगरानी कवि ही कर पाता है। प्रसादजी की 'कामायनी' में कवि-कल्पना का यही सत्य-संगत रूप हम पाते हैं। विश्व-युद्ध की विभीषिका से भयाक्रान्त युग 'त्रिपुर-दर्शन' पर अपने भविष्य का सुनहला महल बनाता है। प्रसाद की दृष्टि-सामर्थ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण 'कामायनी' से मिल जाता है। फिर भी प्रसाद-साहित्य की भाषा एक बहुत बड़ी शंका उत्पन्न करती है। उनकी भाषा में प्रवाह और सादगी कम है।

विशेषत: उनका पाठक यह महसूस किए बिना नहीं रहता कि वह फूली हुई सरसों के ऐसे खेत के बीच से होकर गुज़र रहा है जहाँ बसंत का आभास तो मिल जाता है लेकिन हरएक पौधे का स्पर्श करने के बाद काया-रस का अभाव खटकता रहता है। उसे लगता है जैसे पौधे 'प्लास्टिक' के बने हैं। निःसन्देह 'प्रसाद' ने हिन्दी भाषा को शक्ति दी है, और उसकी शक्ति ली है, परन्तु 'उलझाव' का प्राधान्य उनके साहित्य में प्रत्येक स्थल पर विराजमान है। असल में, भाषा की रवानगी उसके इस्तेमाल करने के ढंग पर निर्भर करती है। द्विवेदी-युग के चौरस मैदान में पहुँच कर भी हिन्दी खड़ी बोली की भागीरथी बहुत दूर तक उलझी भावानुकृत्तियों से भरे 'स्टीमरों' को अपने आकार की गहराई और धार की क्षिप्रता न दे सकी। इसका परिणाम कामायनी की इन पंक्तियों में भी देखा जा सकता है :—

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त,
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय॥

जिन शब्दों का यहाँ प्रयोग किया गया है वे घिसे शिव-लिंगों की तरह तो अवश्य हैं किन्तु शुचिमय प्रतिष्ठापन के स्पर्शाभाव में उनका स्थायित्व नहीं रह जाता। उदाहरणस्वरूप 'विजयिनी मानवता' में विजयिनी नया शब्द बना लिया गया है किन्तु 'मानवता' शब्द ढोल की तरह पिटता-पिटता इतना जर्जर हो चुका है जिसे संदर्भ-गांभीर्य में बिठाना सार्थक नहीं लगता। निम्न-संस्कार का व्यक्ति ऊँचे संस्कार वाले व्यक्तियों के बीच बैठ कर जिस संकोच का अनुभव करता है वही दशा इस शब्द की भी देखने को मिलती है। कवि द्रष्टा, भोक्ता और स्रष्टा तो होता ही है, इससे पृथक उसे कुछ जिम्मेवारियों को भी निबाहना पड़ता है। इस अनिवार्यता को वह चारों ओर की बोध-स्थिति के साथ रख कर परखता है और तब रचना-प्रक्रिया की मर्यादाओं के प्रति सजग होकर उसको आत्मसात् करता है तभी वह माध्यम बन पाता है। इस विन्दु पर पहुँच कर उसकी अभिव्यक्ति व्यक्तित्व-प्रधान और वैयक्तिकता-मूलक न होकर दिक्-काल के व्यापक धरातल पर सीमाबद्ध होती हुई भी पानी की

तरह अपनी जगह पकड़ती है। शब्द तो पपीहों की तरह होते हैं जो स्वाति-नक्षत्र वाली कवि-अनुकम्पा-वृष्टि-बूँद को टकटकी बाँधे निहारते रहते हैं। उनके सूखे कंठ को नया अर्थ वही दे पाएगा जो 'कुशल' होगा। अनाड़ी कवि कंठ-कर्त्तन ही करेगा। प्रायः ऐसा होता भी रहा है।

'प्रसाद' के दृष्टि-विन्दु पर जो चित्र था वह स्वयं में पूरा होने पर भी अपनी तत्कालीन विभिन्न अवस्थाओं की ओर सर्वग्राह्य साधारणीकरण की मनोदिशा के लिए ललचाती आँखों से देखता है। ये अवस्थाएँ लोक-जीवन के स्थानीय पक्ष को लेकर सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेशों की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना की अपेक्षा रखती हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य का अन्तर-रिक्तव्य ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में पौराणिकता के आवरण में ढँका हुआ उद्‌घाटित होता है। 'कामायनी' का यह पक्ष 'प्रसाद' की कल्पना-शक्ति का दृढ़ आधार है। इसका निर्वाह मौलिक ढंग से करने में वे समर्थ रहे हैं।

'प्रसाद' जी की इसी परम्परा को 'निराला' ने आगे बढ़ाना चाहा। तत्कालीन पीड़ा के वे दर्शक ही नहीं थे बल्कि उन्होंने उसे खंडों में भोगा भी था। स्वातंत्र्य-संग्राम की प्रगतिवादी दुंदुभी को उन्होंने बड़े ठाट से बजाया; जिसकी ध्वनि में उनका अपना आक्रोश अधिक फूट पड़ा है। वास्तविकता तो यह है कि कवि की हैसियत से जो रास्ता उन्होंने अपने लिए ढूँढ़ा वह उन्हें निश्चित स्थान पर पहुँचाने के बजाय भ्रमात्मक वन में ले जाता है। वे अछूती समस्याओं की पूछताछ करने में स्वयं से इतनी दूर, इस बुरी तरह से जा पड़े जहाँ वे आकस्मिक ढंग से पहुँच तो गए लेकिन वहाँ से वापस आना उनके लिए मुश्किल हो गया। वादोन्मुखी बहकावों के फेरे में पड़कर वे प्रायः अपने लक्ष्य-पथ से स्खलित होते रहे। इसी कारण उन्हें दैव-प्रकोप का शिकार भी बनना पड़ा जिसका फ़ायदा उनके कुछ चेले-चटारों ने खूब उठाया। निराला जी व्यक्ति के रूप में कवि से कहीं बड़े थे। वे संघर्षों भर्त्सनाओं और व्यंग्याघातों में जीये। वे मुड़ गए लेकिन टूटे नहीं। मानसिक विकृति को स्वीकारा लेकिन आत्महत्या नहीं की। 'निराला' जी की यही आत्मनिष्ठा अद्‌भुत है। इसलिए वे महान् हैं। जिस स्खलन का हमने उल्लेख किया है उसका संकेत हमें

'वह तोड़ती पत्थर' शीर्षक कविता में आसानी से मिल जाता है। इस छोटी-सी कविता में एक क्षणिक, भावुकतापूर्ण हमदर्दी बड़े ही प्रलयात्मक ढंग से व्यक्त होती है। उनके व्यक्तित्व की अक्खड़ता उनकी कविताओं में भी प्राप्य है। यह बहुत बड़ी कमजोरी भी है। वे अपने समकालीन कवियों की भाँति तात्कालिक परिस्थितियों के सींकचे में बन्द थे। जहाँ उनकी कविताओं में समन्वय की प्रवृत्ति का नितान्त अभाव है वहाँ वे निर्वैयक्तिक भी नहीं रह पाये हैं। वैयक्तिकता की वैविध्यपूर्ण सम्पन्नता उन्हें फिर भी उनके समकालीन कवियों से ऊँचा उठा देती है। यह सामर्थ्य न पंत में है और न महादेवी में। 'राम की शक्ति पूजा' में यद्यपि शब्दावली छायावादी है तथापि संघर्षों पर विजयी होने की उत्कट उतावली सहज ढंग से व्यक्त हो सकी है। 'तुलसीदास' में भारत के सांस्कृतिक ऐश्वर्य की उद्‌भावना सशक्त एवं प्रेरणात्मक है। भाषा की दृष्टि से 'निराला' भी 'प्रसाद' की भाँति कृत्रिमता से पीछा नहीं छुड़ा पाए। 'तुलसीदास' की शब्द-योजना जकड़ी हुई तथा अस्वाभाविक है। प्रगतिवादी कविताओं में वे प्रगतिवादी अधिक हैं, कवि कम हैं। घटिया किस्म की व्यंग्यशैली अपनाने पर भी वे कोई पकड़ की बात नहीं कह पाते। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि 'निराला' तब भी खानापूर्ती करने वाले कवि नहीं हैं। वैयक्तिकता की छाप होने की वजह से उनके कवि-व्यक्तित्व में सृजनशीलता की खिंची-खिंचाई लम्बी मुड़ी कड़ी दिखाई देती है। राष्ट्रीय चेतना से 'निराला' कन्नी काट गए। यह उनकी उपेक्षा-वृत्ति भी हो सकती है क्योंकि मैथिलीशरण गुप्त पहले से ही डटे हुए थे। इस कमी को अच्छी तरह पूरा किया पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने। उन्होंने जेलखाने की हवा भी खाई। बाहर जिन खटमलों से वे अपना रक्त चुसवाते रहे उन्हीं खटमलों ने बन्दीगृह में भी उनका साथ नहीं छोड़ा। वे राष्ट्रीयता के सच्चे कवि रह सके। राजनीति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था क्योंकि वे कवि थे नेता नहीं। उनका स्वर आज भी हिमालय के उच्च शिखरों से टकराता है। उनकी कविता में वासंती हरीतिमा है। स्वाधीनता आन्दोलन में न केवल उन्होंने सक्रिय भाग लिया वरन् अनेकों यातनाओं को भी झेला। वे छायावादी और रहस्यवादी कवियों की तरह बहरे होकर अपनी ही कविता अपने कानों से सुनना

पसंद नहीं करते। उन्होंने समय के साथ करवट ली है। उनकी आज की कविताओं में भी भारतीय-काव्य परम्परा का स्वस्थ तथा उज्ज्वल रूप मिलता है। वे कोई भी वादी नहीं हैं, सिर्फ काव्यवादी हैं। वे सब वादों से घिरे भी हैं, इसलिए वे उनकी संकीर्णताओं से अपनी कविता में मुक्त भी रहे हैं। श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' अतीत की गौरवमंडित कल्पना के सुनहरे पालने में पले हैं। यथार्थ की मरुभूमि में वे 'कुरुक्षेत्र' के ओजपूर्ण संदेश को दे सके हैं। उन्होंने हिमालय को वाणी दी। पुराने अवशेषों को प्राण दिए। 'दिनकर' राजनीतिक आकर्षणों से प्रलोभित होने के कारण अपने काव्य में रंग बदलते रहे हैं। अवसरवादिता की विविधतापूर्ण शैली उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का अभिन्न अंग बनती, दीखती रही है। कविता को प्रेरणा-स्रोत वे मानते हैं लेकिन साथ ही साथ व्यक्तिगत रूप से उसे कामधेनु भी समझते रहे हैं। अन्य काव्य-प्रवृत्तियों के अनुरूप उन्होंने अपना रास्ता बदला है, लेकिन आगे बढ़ कर वे किसी 'उर्वशी' को दिक्-काल और गति से बने 'तत्व-समासी' तिकोने 'फ्रेम' में कस कर चूमने से बाज़ नहीं आते। यही दुर्बलता उन्हें 'प्रसाद' की तरह निर्वैयक्तिक नहीं रहने देती। 'दिनकर' की यह सीमा है जिस पर पहुँच कर वे पैर पीट रहे हैं। यौन-समस्या से सम्बद्ध उनकी विलक्षण अरुचिकर नग्नावस्था उनके काव्योत्कर्ष के चन्द्रमा के लिए राहु के समान है। वे दिन-प्रतिदिन इसी दिशा में बढ़ते जा रहे हैं। यह गली सँकरी है ऊर्ध्वगामी होकर कुएँ में कूदना ही ऐसी हालत में श्रेयस्कर होता है। 'नई कविता' से वे उसी तरह खिंचना पसंद करते हैं जैसे शिशु लट्टू या गुब्बारे से। पन्त, बच्चन आदि भी स्वर मिलाये जा रहे हैं। विधा का भेद न उन्हें मालूम है और न वे जानना चाहते हैं। पूँजीवादी पत्र-पत्रिकाओं में धड़ल्ले के साथ ऐसे कवियों की प्रेतात्माएँ खूब मुखरित भी हो रही हैं। यही वजह है कि उनका कृतित्व 'पील-पाँव' की तरह मोटा होता जा रहा है। उनके स्वार्थी प्रशंसक और वे खुद इस मुटापे को स्वस्थता का चिह्न मानते जा रहे हैं।

'दिनकर' की कविता या कविता के 'दिनकर' दोनों परस्पर जुड़े हैं, और अलग भी हैं। दिनकर के सम्बन्ध में यह विचित्र बात है

कि वे जिस चतुराई और सफ़ाई से अपना 'रूट' या रूप बदलते हैं उसी चतुराई और सफाई से निर्वाह करने की क्षमता भी रखते हैं। इसलिए उनका समानान्तरी नमूना मिलना दुर्लभ है। 'तार सप्तकीय' कवियों पर यह असलियत लागू होती है। तीनों सप्तकों में तीसरे सप्तक की हालत ज़रा-सी सुधरी हुई है। कुछ पंक्तियाँ कहीं-कहीं किसी कविता में अचानक 'कविता' बन पाई हैं अन्यथा कविताओं को पढ़ने पर 'सिरदर्द' के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता। जीवन-झाँकियों और वक्तव्यों से ही अन्दाज़ लग जाता है कि कविताओं की रूपात्मकता कितनी सस्ती, सुस्त और बाज़ारू होगी। अज्ञेय जी का संकलन-कौशल और सम्पादन-कार्य दोनों ज्ञेय हो गये हैं। सप्तकीय कवियों का दावा है कि 'कविता का मुख्य कार्य आज के युग में रूढ़ अर्थों में रसोद्रेक मात्र न रहकर 'प्रभाव डालना' हो गया है।' समझ में नहीं आता कौन-सा प्रभाव डाला गया है? साहित्य में यदि चोर बाजारी, सट्टेबाजी, मिलावटपन और सौदागरी देखनी हो तो ये सब विशेषताएँ प्रयोगवादी और नई कविता में सुलभ हो सकती हैं। तब भी 'नई कविता' के अंकों से गुज़रते समय यह एहसास होता है कि कविता वास्तव में 'अज्ञेय' और उनके सप्तकीय कवियों से कहीं आगे बढ़ गई है। कहानियों की भी दुर्गति कविताओं के साथ देखी जा सकती है।

ख़ैर, प्रयोगवादी कविता भाववस्तु की दृष्टि से फिसल कर व्यष्टिगत तथा समष्टिगत बनने का सपना देखती रही है। विधा की विवशता और पिटे-पिटाये शब्दों की लाचारी पर कुदृष्टि डाली गई है। अव्यवस्थित एवं असंतुलित बिम्ब-विधान पंक्तियों के साथ घिसटता चलता है। उसका प्रभाव सजग पाठक के मन पर न अच्छा पड़ता है और न बुरा। यह भी शुभ-लक्षण है। तीसरे सप्तक का कवि थोड़ा-सा हट कर चलता है इसलिए प्रपद्यवाद अथवा 'नकेनवाद' आदि की ओर आसानी से आ जाता है। इसी खींचातानी में 'नई कविता' जन्मती है। 'नकेनवाद' ने 'नई कविता' को ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा ही नहीं किया बल्कि उसे किधर जाना है यह भी इंगित किया। एक तरह से कविता को निस्तेज होने से बचा लिया। कविता की 'दुःखन्ती' (Tragedy) पर सुखन्ती (Comedy) का रंग चढ़ाया

श्री नलिनविलोचन शर्मा तथा उनके अन्य समर्थक कवियों ने। हालाँकि यह मानने में हमें तनिक भी संकोच नहीं कि अभी तक कविताओं में आत्म-ग्लानि, वितृष्णा, अन्तर्कुण्ठा और बेसिर-पैर की खीझ ही व्यक्त हो पायी है। यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि यदि २० वर्षों की कविता और कहानी को हम बाहर निकाल दें तो हिन्दी-साहित्य की गतिविधि के ऐतिहासिक-क्रम की फिल्म में यह युक्ति मध्यान्तर का ही काम करेगी, जिसमें केवल शोर-गुल अधिक सुनाई पड़ता है। फिल्म में कहानी न आगे बढ़ी है, और न पीछे हटी है।

'लय'–१ में जिन कवियों को सम्मानपूर्वक सम्मिलित किया गया है और जिन कवियों को जान-बूझ कर छोड़ दिया गया है, इससे यह अनुमान लगाना ग़लत होगा कि हमने किसी 'सप्तकीय' जैसी 'नौका-विहार' की योजना बनाई है। हम यह मानने को बाध्य हैं कि कविता में कृतित्व का ही मूल्य है व्यक्तित्व का नहीं। आधुनिकता के इसी दृष्टि-विन्दु पर देश और काल की सीमाएँ टूटती हैं। इस 'टूटन' को स्थैर्य का रूप देना आज के कवि के लिए ज़रूरी है। प्रस्तुत संकलन आधुनिकता के संदर्भ में निर्दिशायामी-दिशा का निर्देश भी करना चाहेगा। आधुनिकता के अभियान में हम उन्हीं को शामिल कर रहे हैं जिनके पास साँसों का संबल चुका नहीं है। हमारे कवियों को दिक्-काल की सम्पूर्णता की परिधि से परे जाना है; वहाँ से लौट कर एक क्षण पहले की अनुभूतियों को समेटना है और उनका उदात्ती-करण करना है। औद्योगिक सभ्यता और वैज्ञानिक संस्कृति की व्यापकता का पुनरावलोकन आदमी के अस्तित्व को क़ायम रखने की दृष्टि से करके उसका सम्बन्ध आध्यात्मिक आधार पर यान्त्रिक-दर्शन से जोड़ना है। तभी कविता का प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा।

—सत्यदेव 'राजहंस'

काशीनाथ पाण्डेय : छह कविताएँ

१. एक दिन, और !

कुछ नया नहीं,
सिवा इसके,
कि एक दिन और, रोज़ की तरह
बीत गया,...मुझ-पर-से बीत गया
एक नया दिन,
और मुझे शाम की दहलीज़ पर
सूना छोड़ 'भक्' हो गया ।

अँधेरे ने आँखों में एक
छाँह-भरी करवट ली
और, हाथों से कहा—दीपक जला !

दीपक जला,
तब एक और बीता हुआ दिन
सफ़ेद कागज़ पर काला होने लगा
जैसे, एकदम—मिटने के पूर्व,
उसका यही रंग होना हो ।

और शाम ने कहा—अब मैं भी जाती हूँ
तुझे तेरी नींद के हवाले कर !
और, नींद ने कुछ नहीं कहा...
कहने की नौबत ही नहीं आई
'वो...
वो' नहीं आई !'

२. अकारथ दिवस

ओ, मेरे टूटे अकारथ दिवस !
—मुझ पर टूटो,
मुझे फाड़ खाओ...,

रात की अँधियाली-नींद में
अभिशप्त डरौने-सा मगर,
मत घूमो !

३. आत्मिक

छुपा ही गया। आखिर अपने को,
बचा ही गया।
डायरी-कविता-कहानी—
परदा-दर-परदा, आखिर
अपने को, छुपा ही गया !
खुले तो,
भले ही, खुल गये,
'राऽऽज़ !'
अपने को मैं, मगर,
—बचा ही गया।
—छुपा ही गया।

४. अब, जो मैं देखता हूँ

किसी याद की मेंहदी का रंग
दिल की हथेलियों से
मिटने लगा है।

---कोई हाथ मसलता है
मैं, दिल ही मसला किया।
और, किसी याद की मेंहदी का रंग
अब धुलने लगा है
यानी, अब दिल के ज़ख़्म का रंग
शायरी में उतरने लगा है;
अब कहीं इकट्ठा नहीं,
दर्द, हर बात में उभरने लगा है।
किसी याद की मेंहदी का रंग
मेरे हर रंग में
सँवरने लगा है।...

अब :
मेरे होठों पर मुसकुराहट,
किसी ज्वार के माथे पर,
नाव-सी लगने लगी है;
आँखों में हर-कुछ को डूबता देखने का
अभ्यास, विवश-आश्वस्त नियति-लेख-सा
चित्रित हो आया है :
अब, जो मैं देखता हूँ—
वह, मेंहदी-डँसे की,
(विजड़ित की)—
व्याख्या-दृष्टि से परे की दृष्टि होती है।

६. छठी उँगली

इस पीड़ा को...साधना की
इस पीड़ा को...कौन बूझेगा!
इस 'निर्बल-निरर्थ' से कौन जूझेगा!

कौन डूबेगा, अन्धी गहराई में
भला, कौन उतरेगा—
कोई मोती नहीं जिसमें,
शंख...सीपी नहीं जिसमें—
पीड़ा अनजान की अजानी
इस 'अव्यर्थ-निरर्थ' को कौन बूझेगा
'तथ्य' पत्र का छोड़
हाशियों से कौन उलझेगा !

एक, मौन पंजे की छठी उँगली
कटी हो नहीं जैसे, अभी
हाशिये को स्वीकार नहीं हो जैसे
एक निर्बल चीख़
अँधेरे को,—माचिस की एक खिंचीं सींक !

वैसे ही, उदाहरण-सा कुछ है
मगर, जिसे 'मैं' कहते,
—डर लगता है !
'अपना' मानते,
—डर लगता है !

६. एक प्रश्नोत्तर

—जंगल में क्या होता है ?
—मुझे नहीं मालूम,
मगर हाँ, कुछ ऐसा ही होता होगा
जैसा, यहाँ होता है,
अपने यहाँ होता है,
......'न्याय' होता होगा !
......'अनुशासन' होता होगा !

अरुणा 'मधुज' : तीन कविताएँ

१

वातायन में—
हँसती हुई
एक श्वेत सुनहली
बदली थी।
......मैं।
रुई-सा बदन ले
तारों के इशारों से
खेली...
आँख-मिचौनी।
तप्त धरती से उठी आह
दरिया का धुआँ
...खार,
जैसे हो—
आँसुओं का
...सार।
कालिख रग-रग में समा गई।
पाँव भर्रा गए,
रँगरेलियाँ भूल गए।
काल-रात्रि आचरण
बन छा रही हूँ।
...मैं।
सूर्य-चन्द्र के तेज को,
रोके खड़ी हूँ।
...मैं।
अग्नि-शिखाएँ जलेंगी,
अश्रु-लतिकाएँ फलेंगी।

२

कोहरा······
मस्तिष्क पर उतर आया ।
आँखें निरीह-सूखी हैं ।
मिट्टी के ढेर-सा,
अचेतन कलेवर लिए;
चमन में······
कोई बबूल-सा खड़ा है ।
क्या वाष्प कभी पिघलेगी ?
हम जलधार
बरसेंगे कभी ?
अङ्ग······
फड़केंगे कभी !
बबूल पर—
बसंत महकेगा कभी ?

३

नीला सागर है ।
नीला अम्बर है ।
बीच में—
क्षितिज-रेखा
···नहीं ।
एक छोटा-सा श्वेत पाल,
किसके आधार पर;
छाती फुलाता है !
न जाने किस ओर,
दौड़ा जाता है ।

सागर-अंबर के
झकोरों से,
भागती-दौड़ती,
हर दिशा में घूमती,
...नाव चलती रही।
नीले आकाश में
किनारों के पार कहीं,
झुँझलाकर अकुलाती नहीं,
......नाव बहती रही।

लक्ष्मीकान्त वर्मा : दो कविताएँ

१. टेस्ट ट्यूब का सत्य

[मिस रेखी का आत्म-सत्य]

सच वह है जो झूठ न हो
झूठ वह है जो सदा सच से बचे
बचती वह चीज़ है, जो ज़्यादा है
ज़्यादा वह है जो सहज ही उग आये बिना रचे
बिना रची चीज़ पनपती नहीं,
क्योंकि— वह ज़्यादा होती है।
झूठ सदैव बच रहता है
क्योंकि वह ज़्यादा होता है
उग आता है बिना रचे,
पर पनप नहीं पाता है।
पनपता नहीं वह शहर :
यह चौराहा, यह ट्रैफ़िक पुलिस
यह काठ के मोहरे से लोगों के रूप
ये चेहरे—सफ़ेद
और ये सब—अपरूप :
यह कंकड़, पत्थर, यह गधा, वह अक्षर
बढ़ता नहीं विद्वान, वह पण्डित, वह अफ़सर
बढ़ती है वह सड़क, वह गली, वह अन्तर
....
....
....
मैं क्या करूँ

मैंने सत्य से शादी नहीं की है,
मैं विवाहिता हूँ मि० रेखी की,
और वह जो टेस्ट ट्यूब का सत्य था
अनाथालय में पाँच वर्ष का हो गया होगा
सत्य को टेस्ट ट्यूब में क़ैद करके देखा है
झूठ फिर भी उग आता है !

२. जो हम होते थे :
वह नहीं होते थे :

[एक विलोम की स्थिति]

सूरज को अब तक,
निशि को धोने वाला राकेश उगाता था
गीत को स्वर माँजने वाला मुकेश गाता था,
प्रेम एक पालतू तोता था : जो बन्द पिंजरे में बोलता था
'मौसम' —
कवि की "सघन अलक सघन पलक —
कोमल द्रुति छाया" — देख कर आता था
बसंत, वह उल्लू था जिस पर सब कवि कविता लिखते थे
शकुन्तला वहीं पाई जाती थी, होती नहीं थी,

× × ×

× × ×

आज जब मैंने अपने गीतों को उलट कर देखा
तो लगा
यह सब कुछ जो होना चाहिये था वही होता था
जो हम होते थे, वह नहीं होते थे ।

भालचन्द्र ओझा : दो कविताएँ

१. प्रेम

मैं इतिहास की शकल बन कर तुम्हारे घर आऊँगा
तब, जब तुम गाढ़ी नींद में सोते होगे
मैं अकल की पोशाक पहन कर तुम्हारे घर आऊँगी
तब, जब तुम बेवकूफ़ियों के गिर्द जिया करते होगे
मैं बाप की शकल बन कर तुम्हारे घर आऊँगा
तब, जब तुम्हारे बच्चे बूढ़े हो चुके होंगे
हाँ, मैं आऊँगा।

२. दुख

हम दुखी
इसलिए नहीं कि शब्द व्यथा से जनमे थे
इसलिए कि उनका जीवन व्यर्थ गया

श्रीराम वर्मा : चार कविताएँ

१. मरीचिका

चूमना : रेत में सागर झलकना।
हिरन का रह-रह अधर में दौड़ना।

२. शार्दूलविक्रीडितों का स्वगत

हमें लड़ना नहीं आता।
गाते हैं इसीलिए हम तुतले शान्ति-गीत।

चीन हमें लोरियाँ सुनाता है।
सुलाता है कैसी दे-दे थपकियाँ !!

हम इतने कोमल हैं
सोते से जाग जाते हैं
जमुहाइयाँ लेते

करवट बदल माँगते हैं
चाकलेट अमरीका से
रूस से लालीपॉप
दुनिया खड़ी लेती है बलैयाँ !

३. एक गमले को देखकर

गहरे गुलाबी फूलों के फुँदने
गमला ज्यों मुँह बछेड़े का

असमय जुता
सूँघता ज़मीन
सुस्ताता

४. बाँहों में नदी

बाँहों में नदी
जैसे कुल सदी
बाँहों में

गोरे हरेपन पर
रंग कई गहराये
नस-नस में
जल-भँवरे
लहरायी रेती में
खंजन-पद
अधरों में
लहरों में
चन्द्र-बिम्ब
गदबदे उभर आये
साँवरे अँधेरे में
खिली-मुँदी आभाएँ
बाँहों में
तुम्हारी तन-गंध से
बनते-मिटते वसन्त
फूल
भँवराये
अँधेरे में
बाँहों में नदी
लहरों में चन्द्र-बिम्ब
अँगूठे के बल
ठिठकी हँसी ज्यों
समय कुल ठहर जाये
बाहों में

राम किशोर द्विवेदी : एक कविता

१. दोस्ती : एक दृष्टिकोण

दोस्ती क्या है ?
एक केटली की गरम चाय
जो कि जनाकीर्ण विशाल रेस्तराँ—
की एक ख़ामोश टेबुल पर
रखे हुए दो प्यालों में ढाली गई,
(धुआँ छोड़ते हुए चाय के दो प्याले)
और
दो वैयक्तिक विचार तन्द्राओं के बीच,
आख़िरी बूँद तक सिप की गई ।

दोस्ती क्या है ??
एक ही मैचस्टिक से
जलाई गईं
धुआँ छोड़ती हुई दो सिगरेटें
जो निर्भाव हो जलीं
दो उँगलियों के मध्य भाग तक
महज़ उँगलियों में
काले-पीले दाग छोड़ जाने को ।

प्रभाकर माचवे : चार कविताएँ

१. अ-व्यय

मैं रोज़ इस ईसाई कब्रिस्तान के पास से
गुज़रता हूँ
मैं रोज़ इस आया को, नन्हे गोरे बच्चों को,
खिलाते हुए, गुब्बारे देते हुए, देखता हूँ
(क्रिया हूँ या कर्त्ता हूँ ?)

सड़े फलों को बेचनेवाले अब चले गये
आँखों का चमत्कारी सुरमा बेचनेवाला चला गया
अब तो सिर्फ़ जिनकी हवा निकल चुकी
ऐसे टायरों को दुरुस्त करता साइकलवाला
और बकरियाँ जिसे चर गईं ऐसी अधखायी झाड़ियाँ,
पड़ी हैं निबौलियाँ ।

काली आया उबासियाँ भरती है
प्रैम में बच्चे अपनी कबूतर-सी नीली आँखें
भूरी पलकों में बन्द किये सोये हैं
वे सुखी हैं—उन्हें सपने नहीं आते हैं
कब्रिस्तान में इस क्रास के नीचे कौन-सा सन् और
कौन-सी तारीख पड़ी है किस लिपि में
या अच्छे फल अच्छी आँखों से देख कर
अच्छी साइकलों पर भागते हुए

उन चरागाहों में हम कब पहुँचेंगे
जहाँ पीटर पैन बाँसुरी बजा रहा होगा
कलिन्दजा में मन्द-मन्द चन्दा का प्रतिबिम्ब
'बृन्दावन-चन्द बिना नन्दपुर अन्धकार...
कब्रिस्तान के सूने दरवाजे पर आज भीड़ है
एक काली गाड़ी में एक काली कफन-पेटी
लाये हैं चुपचाप। बंद द्वार।
क्या उन बच्चों का बाप उस हवाई जहाज़ में मर गया
जो इसलिए टूटा था कि शायद
पाइलट ने सड़ा फल खाया था विषैला
या हवा नहीं धौंकी जा रही थी उन पंखों में

फेंफड़े कमज़ोर होते हैं
आयाएँ भी मर जाती हैं
इसी ख़याल से मैं डरता हूँ
चुपके से उन बादलों की सीढ़ियों से उतरता हूँ
अपने आसपास कुछ काँटे उगा लेता हूँ
उन्हीं में बसेरा किया करता हूँ
(कर्त्ता, नहीं क्रिया नहीं, केवल एक अ'व्यय' हूँ
चुकता हूँ, झरता हूँ
भरमाता निज को 'उभरता' हूँ !)
मैं रोज़ इस कब्रिस्तान के पास से गुज़रता हूँ
फैलता हूँ, सिमटता हूँ,
जमता-बिखरता हूँ।

१. समर

रावण तो जल गया
कागज़ का बना था
पर इस विराट झूठ का पेट कौन फाड़ेगा ?
उस ट्रोज़न घोड़े के भीतर तो कठपुतलियाँ
अभिमन्यु 'इन्द्रजाल कामिक्स' पढ़ने में लगे
यह गोरखधंधा है बहुत ही उलझा हुआ
रामलीला खत्म हुई, वह तो सिर्फ़ नाटक था

श्रावण का जल गया
काजल भी बहा था
गंगा-यमुना के बहाने बिरहे को कौन छेड़ेगा
इन काले चश्मों के भीतर वही पत्थर पुतलियाँ
मन्यु गया, रोब गया, बचा सिर्फ़ मर्सिया
हिचकियाँ, सिसकियाँ युद्धोत्तर 'हुआ-हुआ'
यह अरण्य-क्रन्दन है बहुत ही बुझा-बुझा
रावण अभी बाकी है
जो जला वह त्राटक था
हर दर्शक के मन में :
राम और रावण का शुरू हुआ खरतर
फिर से—अपराजेय समर
हर क्षण, हर दिन, हर घर,
हर शहर, हर प्रहर...

३. एक रचना
(कुछ ग़ज़ल-नुमा, कुछ सानेट-नुमा)

हमारे दोस्त वे जो पीठ में छुरा भोंकें
अकेले बैठकर क्या भाड़ में चना झोंकें
अजब हैरानगी है : बँधा हूँ या खुला हूँ
नहीं जाने दिया हमको, न रास्ते रोके
खुदा को ख़ाक समझे, न साइंस भी आया
बहुत कुछ पा गये दोनों जहां खोके
हिलाते रह गये बस काग़ज़ी पंखे
खुलीं कब भीतरी आँखें, झरोखे
हक़ीक़त सामने है लाल और पीली
किसे हम दोस्त समझे प्यार के धोखे
कभी दो-चार बूँदें प्रेम टपकाया
हमें पच्छिम अभी तक स्पंज-सा सोखे
न समझो रास्ता है साफ़, सीधा, सामने
अभी बाक़ी बहुत बन में बड़ी जोंकें

४. विदेश में लिखी कविता
(जर्मनी में)

गुनगुनाहट
धूप की
और हल्की सुबकती-सी एक आहट
रूप की

प्रभाकर माचवे : चार कविताए

यह हरे, छितरे हुए, कितने तिकोने, गोल,
पत्ते आज डाँवाडोल
एक मादक छुअन के ख़ातिर बिके बेमोल
ओ अरण्यानी, निशा,
ले ऋचाएँ मूक ये सारे खगोल
आज फिर से एक सागा
एक ओडेसी
पुनः एक गिल्गिमेश
देखना मत फिर मुझे यों निर्निमेष
आज फिर से एक आल्हा
बेहुला
मणिमेखला
हीर
कुण्डलकेश
मींड रागिनी भूप की
या बुलाहट फिर उसी महबूब की,
डैन्यूब की ।

'मधुछन्दा' : पाँच कविताएँ

१

ऊँचे देखा......
वृक्ष की ओर
    चमगादड़ उल्टे लटक रहे हैं
ग़लती है,
    शायद मेरी ही।
    नहीं, वे उल्टे नहीं—
वे सोचते हैं—
    दुनिया उल्टी है
    वृक्ष उल्टे हैं
धरती ऊपर
    आसमान लटक रहा है
            —नीचे।
आसमान पर चल रही हैं
        रेलगाड़ियाँ
धरती पर
    चाँद-सितारे लटक रहे हैं।
        आसमान हरा है
        इमारतों से भरा है।
        धरती नीली है
        युद्धों से गीली है।

२

उधर वह एक एंजिन
    जो चलता है
    छक्-छक्-छक्-छक्।

इधर यह एक हृदय
जो करता है
धक्-धक्-धक्-धक् ।
दोनों के भीतर,
—आग ।
दोनो दीर्घ निश्वास
भरते हैं ।
जब पीड़ा हल्की नहीं होती है
दोनों चीत्कार
करते हैं ।
दिन-रात
अविश्राम......
लक्ष्य गंतव्यहीन ।
मेरे हृदय की भी शायद
कोई मंज़िल नहीं ।
वह तो 'शटल' का एंजिन है
किन्तु यह......



बैलगाड़ी जा रही है,
गाँव के किनारे
धीरे-धीरे
कुत्ता......
—एक काला
उसके नीचे चला जा रहा है ।

सोचता है,
वह अपने मन में
'यदि मैं न होता,
तो क्या होता ?'
कैसे चलती यह गाड़ी
जिसे……
मैं ही चला रहा हूँ।

४

यह कमल मुरझा गया,
जिसका मैंने चित्र बनाया।
चित्र जीवित है,
लुप्त-प्राण;
स्मृति-शेष—
वह चाँद छिप गया,
जिसको मैंने अन्तर में बिठाया।
अन्तर जल-प्लावित,
चाँद अमर!
विकल चाँदनी
कुछ अवशेष।

५

'पुश-बटन' युग है—
भागते हैं...जेट
राकेट, एक ही
बटन दबाने से—

युग-युग पूर्व बना
यह मन
न 'पुश' है
न बटन
कौन रोक सकता है
इसे, ऐसे ही
अन्तरिक्ष में—
चक्कर लगाने से !
किन्तु,
पिपीलिका-सो
नहीं,
एक अडिग यन्त्रणा-सी
हटाने को जिसे—
'पुशबटन' क्या
परमाणु शक्ति भी
नाशी—
चलने से किसे
बढ़ने से किसे
रोका इसे ?
देह, कहाँ
हाय—
मन कहाँ का
निवासी— ?

९. उदास अधूरापन

सब कोलाहल सो जाने के बाद जो
शब्द जागता है
सुनना हो, तो उसे सुनो !
एक मृदुल संगीत उभर धीरे-धीरे
पूरे सन्नाटे पर यों छा जाता है
जैसे किसी झील के निर्मल दरपन में
एक जादुई नीलापन थर्राता है !
सब सत्यों के खो जाने के बाद जो
स्वप्न जागता है
बुनना हो तो उसे बुनो !
हर जलूस कुछ नारों का अनुगामी है
भीड़ों का कोई व्यक्तित्व नहीं होता
सबसे अधिक सुनी जाती हैं अफ़वाहें
बहुमत में सच का अस्तित्व नहीं होता !
सब ज्वारों के ढल जाने के बाद जो
बच जाता है कूल पर
चुनना हो, तो उसे चुनो !
शिल्पकार, इतना न तराशो प्रतिमा को
परिष्कार से सहज रूप मर जाता है
यह उदास, अनमना, अरूप अधूरापन
कृतियों का यौवन अनन्त कर जाता है !
है भविष्य उसका ही जो कि अपूर्ण है
उसका हर क्षण एक नया सम्वेदन है
गुनना हो, तो उसे गुनो !

२. अधूरी समाप्तियाँ

सब समाप्त हो जाने के पश्चात् भी—
कुछ ऐसा है
जो कि अनहुआ रह जाता है !

चलते-चलते राह कहीं चुक जाती है
लेकिन लक्ष्य नहीं मिलता,
चाहे रखो उसे जल में या धूप में
किन्तु फूल कोई दो बार नहीं खिलता
खिले फूल के झर जाने के बाद भी
शापग्रस्त सौरभ उसका
किसी डाल के आसपास मँडराता है !

अच्छा, मैंने मान लिया—
अब तुमसे कुछ सम्बन्ध नहीं
पर, विवेक का लग पाता मन पर सदैव प्रतिबन्ध नहीं !

अक्सर ऐसा होता है
सब जंज़ीरें खुल जाने के बाद भी
क़ैदी अपने को क़ैदी ही पाता है ।

मृत्यु किसी जीवन का अन्तिम अन्त नहीं
साथ देह के प्राण नहीं मर पाते हैं
दृष्टि रहे न रहे, कुछ फ़र्क नहीं पड़ता
चक्षुहीन को भी तो सपने आते हैं ।

सभी राख हो जाने के पश्चात् भी
कोई अंगारा ऐसा बच जाता है
जो भीतर-भीतर रह-रह धुँधुआता है ।
सब समाप्त हो जाने के पश्चात् भी……

कृष्णनन्दन 'पीयूष' : चार कविताएँ

१. अव्यक्त-कथा

जून के जामुनी बादलों की तरह
तुम्हारी याद।
मैं दोपहरी में तपता हुआ पलाश
हमारी आँखें भर आयीं हैं !!
ओ, री, ओ !
तुम कहाँ हो ?
मेरे दर्द की कथा यह बाँसुरी नहीं कह पायेगी
कब तक खिलते रहेंगे मन में; पलाश ये;
शायद, यह जीभ भी अब नहीं चुप रह पायेगी !!!

२. एक पत्र : एक अनुभव

हमारी ज़िन्दगी;
बिना पोस्ट किया एक पत्र ही तो है
जिसे किसी ने लिखा है;
फिर काट दिया है।
तभी तो असीमित संभावनाओं का अंकुर
फूटता है; फिर मुर्झा जाता है।
सुबह की किरण झाँकती है,
फिर शाम आ जाती है !!
किससे पूछूँ ?

जब भेजना ही किसी के पास नहीं था मुझको
तो मैं लिखा ही क्यों गया ?
यदि लिखा भी गया मैं अनचाहे
तो क्यों काट दिया गया उन अक्षरों को
जिनमें किसी के मन की गूँजी आवाजें थीं,
आगत की दस्तकें थीं ।

३. असमर्थ

जब कभी तुम्हारी हँसी याद आती है,
तो लगता है,
हमारे कानों में असंख्य चाँदी की घंटियाँ बज उठीं हों ।
रेडियो पर बजती हुई वायलिन की आवाज़
चीख़ता हुआ गिटार,
सभी तुम्हारी कब से सहमी आवाजों की प्रतिध्वनियाँ ही हैं,
मैं क्या करूँ ?
हमारी विवश आकांक्षा,
आहत समुद्र की लहरियों की तरह सिर पटकती रही है,
पर इससे क्या हुआ ?
तुम्हारी चाँदनी की जुन्हाई मन में बसायी तो गयी,
पर मैं पी न सका,
काश !
कभी भी मेरे कण्ठों की प्यास,
समझ भी पातीं तुम !!

४. नर्मस्फिञ्ज

डरो नहीं, ऐसा भी होता है !
यह बेंतलता सी तुम्हारी काया,
अलम्बुषा-सी अलसायी,
तुम्हारी देह-यष्टि,
बिखरे कुन्तल; डरो मत !
कभी-कभी ऐसा भी होता है !!



टूटे इन्द्रधनु के रंगों को
भर कर भी प्याली रीती है ?
प्यास की उम्र बढ़ती रही है,
हँसो; डरो मत !
कभी-कभी ऐसा भी होता है !!



आकाश-गंगा में खिला है,
फूल यह कदम्ब का,
चंपा भी आज रात फूलेगी,
गाओ; डरो मत !
कभी-कभी ऐसा भी होता है !!

राजेन्द्र वर्मा : एक कविता

१. अनुभूति-भ्रम

मैं कैसे गुज़र जाता हूँ
इन दीवारों से
सड़कों से
भीड़ों से ?
पर, हो सकता है,
यह केवल अनुभूति-भ्रम हो
और ये दीवारें
सड़कें
भीड़
मुझ में से गुज़र जाती हों।

भारत रत्न भार्गव : दो कविताएँ

१. दोष मुक्त/युक्त

ओ अनागता !
आज फिर हृदय के अन्तराल में
अनाहूत इच्छाएँ
सपनों की सीमा घेर कर खड़ी हो गई हैं ।
बोलो, इन्हें क्या करूँ ?

दोष इनका भी क्या ?
दोष तो दृष्टि का है,
साँस का है—
टूटे इन्द्र-धनु के बिखरे रंग
सौरभ के साथ
हृदय में गहरे तक उतर आए हैं ।
बोलो,
इन्हें क्या कहूँ ?

मैंने
मेघों की पसरी हुई हथेलियों पर
नयन-किरण से शब्द बेध दिए हैं ।
ये जब तुम तक आएँ
तो इनकी हथेलियों में छिपे
घावों के दर्द को पढ़ लेना ।
शब्द यदि टूटे हों,
दर्द का कोष खोलना—
देखना, समझना, गढ़ लेना
और इन्हें पढ़ लेना ।

२. श्लथ व्यक्तित्व की स्पष्टोक्ति

चीख़ती,
रात के सन्नाटे को बेधती
मेरी 'वह' आवाज़ मुझे सुनाई नहीं दे रही है।
इस स्याह अंधेरे ने,
जो मेरे मन के किसी अज्ञात कोने में
थके-थके हाथों से वहशियत की चादर बुन रहा है—
मेरी आवाज़ का कंठ घोंट दिया है।
यह कसमसाहट मेरी साँसों की गोदी में
मुँह छुपा कर रो रही है
और मैं
अपने आप से बिछुड़ कर कहीं खो गया हूँ।
मेरी दिग्भ्रान्त आवाज़ों को लौटा दो
ताकि मैं उन्हें अपने में समाहित कर लूँ,
याकि मैं अपने आपको पा लूँ।

●

मेरी आस्था पत्थर की गेंद है
जो मेरे मन के अंधेरे कुएँ में डूब गई है।
मेरी गेंद मुझे ला दो,
पत्थर की गेंद!
मेरा स्पृहा-शिशु अभी उससे खेलना चाहता है।
यह रात का सन्नाटा,
मेरे मन का अंधेरा
मुझे निचोड़े दे रहा है
और—
आस्थाहीन, कुंठाग्रस्त मैं
करूँ भी तो क्या?

●

मेरी दिग्भ्रान्त आवाज़ें मुझे सहेज कर लौटा दो,
मेरी आस्था की गेंद कुएँ से निकाल कर ला दो,
फिर मैं
अपनी बेधती आवाज़ों से
इस बदतमीज़ सन्नाटे की छाती चीर दूँगा।
फिर मैं
अपनी पत्थर की गेंद से
अँधेरे की रीढ़ तोड़ दूँगा।
पर इससे पहले
मेरी गेंद मुझे ला दो,
मेरी आवाजें मुझे लौटा दो;
क्योंकि अपने आप से बिछुड़ कर मैं कहीं खो गया हूँ।

योगेन्द्र कुमार लल्ला : दो कविताएँ

१.

गतिहीन शहरों के बीच
दौड़ रहे हैं मकान,
श्मशान ।
हर चौराहे पर एक सलीब खड़ी है,
जिस पर टँगी है निरावरण सभ्यता ।
सड़कों पर काँटे हैं,
रेत है ।
सूर्यमुखी फूलों पर है अंधकार
सिर्फ जानवरों को है एक-दूसरे से प्यार ।
निर्वासित हैं इंसान,
क्योंकि पराये हैं धरती और आसमान ।

२.

दोपहर को अदृश्य तारे की तरह
विस्तार का केन्द्र-बिन्दु मैं
चीख कर जगाता हूँ अपना अहं
कि अपने से अधिक प्रकाशवान,
अधिक तेजोमय
सूरज को गाली दे सकूँ ।
पर मेरी तनी हुई शिराओं में
हमेशा झुर्रियाँ पड़ गयीं
क्योंकि मेरे अपशब्दों से
स्तब्ध हो कभी कोई सूरज
पूर्व में नहीं डूबा ।

बालकृष्ण राव : दो कविताएँ



शैल-शिखर एवरेस्ट
चित्र यह
वायुयान से
लिया गया था जिसका —
कितना शुभ्र !
शान्त !
गम्भीर !
शुद्ध !
सात्विक !
शोभामय !
यहाँ सहज ही,
अनायास ही,
लगता है
मिल जाते होंगे
विचरण करते
किन्नर-यूथ, गंधर्व, देवता
उन्हें न जाने क्यों
न देख पाये ये मानव
चित्र न उनका ले पाये,
जो उड़े हिमालय की चोटी पर
वायुयान से !

पार्थिवता का
यह पुनीत उत्कर्ष ।
हमारी
ऊर्ध्वमुखी
आशा-आकांक्षा
का उद्बाहु प्रतीक
अचल है,
अविनश्वर है—
पर क्षणजीवी,
अस्थिर मानव-चरण
शीश पर अपने
पाये उस दिन शैलाधिप ने ।

नया सत्य सीखा था उस दिन
यक्षों, देवों, गंधर्वों, किन्नर-यूथों ने—
मान बढ़ा एवरेस्ट शिखर का;
एक कुली का क़द जितना है
उतनी ऊँची
और हो गयी
पहुँच धरा की
अंतरिक्ष में ।

२

इतने घने अँधेरे में भी
तुझे मिल गयी राह !
आह, नक्षत्र हठीले,
ऐसे घिरे हुए नभ में भी
तूने खोज निकाली

यह छोटी-सी खुली हुई खिड़की,
अब जिससे
देख रहा है—दीख रहा है।

इन विषाद की शताब्दियों के बीच
हर्ष के क्षण-सा
तम के सीमाहीन मरुस्थल में
ज्योति के कण-सा;
अभियानों के खंडहर में
तू अजित, अनाहत प्रण-सा—
हँसता जा
मेरे नक्षत्र!
घिरा रहे आकाश,
मिलेगा फिर भी तुझको
इन्हीं घटाओं में
अब-तब
मुस्काने का अवकाश।

पुष्पा राही : एक कविता

९. धुआँ नहीं मँडराया !

पूजा के फूलों को
वापस ले आई हूँ
मन्दिर का द्वार आज बन्द था।
धुआँ नहीं मँडराया
चिमनी के घेरे पर,
गगन नहीं धुँधलाया
शहर के सवेरे पर।

अनसोए द्वन्द्वों को
आज सुला आई हूँ
बाहर कोलाहल भी मन्द था।
तितली के पंखों के
गिनती हूँ रंग आज,
झरनों की कलकल के
बहती हूँ संग आज।

कोहरे की कारा से
किरण चुरा लाई हूँ
फूलों में भरना मकरन्द था।
खुशियों के दर्पण को
हाथों में ले लूँगी,
दूर कहीं निर्जन की
गोदी में खेलूँगी।

भीड़ भरे मेले से
ढूँढ-ढूँढ लाई हूँ
बच्चे-सा भटका आनन्द था।

श्रीराम तिवारी : दो कविताएँ

१. विगत

चलता हूँ
पाँव पकड़ लेता है,
सोता हूँ
संग लेट जाता है,
बड़ा मुँहजोर है : रिस गया है
ओठों पर कढ़ जाता है—
जब कमरे में अकेला
होता हूँ,
दरवाजे पर खड़ा रहता है
खिड़कियों से झाँकता है;
मेरी हर चीज
टेबुल, अलबम, किताब, मेजपोश
पर धूल की परत बन जम
गया है—
झाड़ता हूँ—आँखों में अंज जाता है।
मैदानों, तटों, बियाबानों में
दूर से पुकारता है···दूर से पुकारता है
पीछे मुड़ता हूँ
......गा...य...ब हो जाता है—
सुबह की पहली किरण के साथ आता है
शाम तक रहता है
ढल जाता है।
सँझबाती का दीया जलाता हूँ···
मोमबत्ती के ढेर-सा गला हुआ,
रखा है,
ऊपर ही ऊपर बल जाता है···

फिर···फिर न जाने रात को
कब रोता है
बिछावन, रूमाल—सब
तर कर जाता है।

जब भी, जहाँ भी होता हूँ
खोये हुए धन-सा याद रहता है।
चाहे अनचाहे मेरा हर क्षण
उसमें तिरोहित है। चलता हूँ...

२. अक्षर

मेरे कमरे में पदचापों के परिचित
वर्ण—
                    महके,
आँखों में, तरलताओं में
पिछली सहचर्या की शाम
खुली हवा
झील
यात्राओं
        —की अनेक संस्तुतियाँ
        झलकीं,
खुली हवा—जिसमें
तुम्हारे मुख की सरलता के अतर्क निवेदन
                    बहके,
झील—जिस पर
तुम्हारी आँखों की रवहीन छवियों के खग
                    चहके,
यात्राएँ—जिनमें
तुम्हारे अंतर की गुहा-प्रणालियों के पाटल
                    टहके। मेरे कमरे में···

देवेन्द्र प्रताप पाण्डेय : चार कविताएँ

१. प्याला

प्याला—
होंठों से लगते ही
टूटा,
बिखरा,
फैल गया ।
अधूरे सपनों की याद
टीसों में
डूब गईं ।
जिस आईने में
सूरत देखी
वही—
उपेक्षा के हाथों
चटक गया ।
रात का अंधेरा
दर्द का—
साँवला बिखराव !
सुबह फिर रात पर
मुहर देती है ।

२. एक जोत

ऊँची फुनगियों पर,
एक मद्धिम-सी जोत,
उठती......
फैलती... !

देवेन्द्र प्रताप पाण्डेय : चार कविताएँ

घनी-लिपटी छायाएँ
चाँदनी की ओट में;
ख़ामोश हो...
सामने खड़ी हो गयी हैं।
तुम्हारे छूते हुए साये की तरह,
मुझसे कुछ दूर,
यह हल्की-सी छुअन
हज़ार-हज़ार बातें;
······कह जाती है।

नदी की धार पर...
चाँदी पिघलती है।
हवाओं के दुपट्टे लहराते हैं।
बदलियों के काले-काले रेशम-ढके
बिजलियों के सद्यःस्नात मुखड़े।

अनबूझे मन में···
तुम्हारी गति की चिनगारी
···चमकी।
अर्थ-ध्वनि कौंधी।
चाँद-सितारों की दूरी पर...
तुम चली जाती हो।

हम......
स्पर्श-धूप-चाँदनी
पाकर...
सिर्फ़ बौने हैं।

३. उस दिन का नाम

तुम मुझे बाँध देना चाहती हो
मुझी में
लेकिन साँसों की हर धड़कन पर
जो सरगम है
वह तो तुम्हारा ही है
उसे कैसे बाँध सकोगी ?
जागते हैं पहरुए रात के
जगाये रहते हैं दर्द—
नींद और यादों को
ये पहरे हैं—
तुम्हारे बिठलाये हुए
कि, तुम्हारा दान शायद सो जाने से
अपने को अरक्षित अनुभव करता है !
आज की रात बहुत काली है
फिर भी उतनी नहीं, जितनी—
मेरी जागी आँखों में तुम्हारा काजल……,
मुँदा हुआ !
वह तुम्हारा छवि-अंकन
जब सूरज शाम को ढल रहा था :
वन-पाँखियों का कलरव
और पाँखों की फड़फड़ाहट
मेरे दिमाग़ से उस दिन का नाम—
ग़ायब किये दे रहे हैं
मुझे बताओ, उस दिन का क्या नाम था ।
नहीं, मैं यह अँधेरा
किससे बदल पाऊँगा ?

४. खुशबू, हवा में फैल चुकी

पानी को चीरता—बढ़ता जहाज
डेक से लगी, बैठी तुम !
शरारती हवा तुम्हारी लटें छू जातीं,
बार-बार सीटियाँ बजा जातीं,
(मैं तो दूर नहीं, तुम्हारे पास ही था)
तो क्या उस शोख़ हवा को,
मेरी निगाहों को,
तुम्हारी दी हुई क्षण-सम्पदा
जो मेरे पास है—
उसे भी क्या तुम छीन लेना चाहोगी ?
लेकिन वह तो मेरा है, अपना है !
यह तो वश की बात नहीं
कि, हवाओं पर बन्दिश लगा दी जाय······
और यह भी सम्भव कैसे है......
कि, फिज़ाओं से हँसकर मुँह मोड़ लिया जाय !
होंठों की मुसकुराहट, गुनगुनाहट......
शायद इन पर ताले लगा भी लिये जा सकें......
लेकिन जो खुशबू हवा में फैल चुकी है,
साँसों में घुल-मिल चुकी है,
उन फूलों की ख़ुशबू—चमन
उसे कैसे छीन सकेगा ?
कैसे छीन सकोगी वह सब कुछ
जो तुम्हीं ने दे दिया है
किसी अतिरिक्त क्षण के
आवेश में ही सही
—मगर
मेरा सारा सागर उसी से उद्वेलित है !

डॉ॰ मोहन अवस्थी : एक कविता

९. तुक बोलती है

मैं शान से बोला—
"यह ज़िन्दगी भी क्या
जैसे चाय का हो एक प्याला।"

रोक कर मुझको
मेरे मित्र ने कहा—
"यह बात कहीं कह चुके हैं 'निराला'।"

मेरा चढ़ गया पारा
मैंने उन्हें ललकारा—
"यह झूठ बात आप कहते हैं कैसे ?"

वह मुस्कराए—
"भाई तुक बोलती है ऐसे !"

रमेश गौड़ : एक कविता



चोटी पर मुर्दा बर्फ़
मैदानों में रेगिस्तान
——नागफनी।

बाढ़ में बहते हुए छप्पर

बालू पर सीपियाँ
(ज्यों खुली हुई मुट्ठियाँ)
अतल-तल में मानव-शरीर के अस्थि-पंजर

खौलते कढ़ाव में जुही की कली

या फिर—

कुर्सियों से भरे हुए रेस्त्राँ में
एकाकी मैं!

हम में से कोई हो
(——कोई भी हो)
हम सब-के-सब भोक्ता हैं
होने की नियति के!

जीवन प्रकाश जोशी : दो कविताएँ

१

अरी ओ री मीरा !
अब मैं तेरे घुँघरू बँधे पदों की
मुग्ध-ध्वनि नहीं सुनता ।
तू क्या चिर-निद्रालीन है ?
ओह, सामने गुरुत्वाकर्षण वाला न्यूटन खड़ा है,
और ये उस जैसे बराती भी तो खड़े हैं !
हम सब मशीनों के मंडप में हैं
मशीनें महामंत्र पढ़ती हैं—
हुट्......हू ! .. हुट्......हू ! ...हुट्......हू !
घरड़......घरड़......मरण......मरण
शाऊ......शाऊ......शाऊ,
उफ़ मीरा,
तेरा साँवरिया मर गया है
तेरी न्यूटन के साथ नई शादी होनेवाली है ।

२

उफ़ !
तुम्हारा पहला-पहला स्पर्श
इक्वेटर-सा गर्म था
ओह !
आज तुम्हारा स्पर्श
उत्तरी ध्रुव-सा ठंडा है
प्रणय की इन दो अतियों के बीच
मैंने तुममें ज़िन्दगी और मौत को मिलते देखा है ।

शान्ति राय : तीन कविताएँ

१

आँसू ही जीवन है
वेदना ही प्राण है
दुःख की बदली की घुमड़न
जहान है।
आहों का निकलना ही
वह चाँद-सा निशान है,
कि जिससे—
जीवन संगीत यह
बनता महान् है।

२

'सावन की बदरिया छाये
पिय नहीं आये।'—
मैंने कैलेण्डर पर अंकित
शशि-अंक को
धीरज के वृत्त में
घेरा था।
पुनर्मिलन की बेचैनी के केन्द्र पर
चिर-नवीन साव ने डाला
डेरा था।

× × ×

मीना ने ज़िद्द की
पड़ोसियों के फूलों से
गुलदस्ता सजा दिया
एक खटकने वाली अनुपस्थिति में
अभाव का भौंरा ही
बरबस बिठा लिया।

मुन्ने को दूध पिलाते वक्त
स्मृति के कम्पन से,
चम्मच फिर हिल गयो
आँगन की रातरानी
फिर से खिल गई ।



जो है उसमें सदा अभाव
जो नहीं मिला उसमें सद्भाव है
जो पल आ नहीं सकता
उसको पकड़ने की, प्राप्त करने की
कितनी घनी याद है
उछाह है, उमंग है
किन्तु जो प्राप्य है, सम्भाव्य है
उससे न जाने कैसी अरुचि—कैसा वैराग्य है ?
जो चला गया—लौट नहीं सकता
उस क्षण, उस जन को पकड़
लटके रह जाने, तड़प उठने का कैसा व्यामोह है ?
कैसी विवशता, कितनी पराजय ?
अतीत को काश, कोई बाँध पाये !

डॉ० जगदीश गुप्त : दो कविताएँ

१. अंधेरे की स्वागत-समिति

कभी नाव से
कभी पतवार से
कभी आपस में
और कभी किसी के ठंडे कपार से—
—चमगादड़ टकराते हैं।

उनके गति-वृत्त
शाम में डूबी लहरों पर
इधर-उधर फैलते हैं
डरते हुए वे—
अंधेरे के स्वागत में आते हैं, जाते हैं
बार-बार चक्कर लगाते हैं

पक्षी-पशु-युति के उन काले प्रतिनिधियों को
कौन समझाये—
'वह अंधेरा
जिसका वे स्वागत करने को आतुर हैं
जब भी कभी आयेगा
सबसे पहले उन्हीं के अस्तित्वों पर छायेगा।'

२. बहुलोचना नदी

पुल से देखा
हर नाव
जल की आँख दिखी,
बहुलोचना नदी की—
दृष्टि की टोह में
लिखी कविता
फिर भी रही अनलिखी।

शेरजंग गर्ग : एक कविता

१. तुम्हारे ध्यान में

तुम्हारे ध्यान में जगना, तुम्हारे ध्यान में सोना
यही बस हो रहा है ज़िन्दगी में !

किनारों पर किसी तालाब के घंटों ग़लत फिरना,
बग़ीचों में पहुँच करके उदासी की तरह घिरना,
भरे संसार में अस्तित्व होकर भी नहीं होना,
यही बस हो रहा है ज़िन्दगी में !

कहीं फिर उठ न जायें रास्ते में कुछ बवण्डर से
नहीं, लेता नहीं लेता तुम्हारा नाम इस डर से
ज़माने से बहुत छिप कर बहुत छिप कर महज़ रोना
यही बस हो रहा है ज़िन्दगी में

हमेशा शाम हमको दर्द की तस्वीर देती है,
तुम्हारी याद गुमसुम वादियों में खींच लेती है,
हज़ारों आरज़ू लेकर न कुछ पाना, न कुछ खोना
यही बस हो रहा है ज़िन्दगी में ।

मदनमोहन 'तरुण' : चार कविताएँ

१. कुछ ऐसा ही

समय,
कुछ इंचों की सीमान्तक—
काँटियों के बीच
टूटी टाँग वाली चींटी-सा
यात्रा कर रहा है।
संवेदना,
एक पुराना आत्मभोगी शब्द
मुझे नहीं जीता।
नया गढ़ने के बीच
कहीं अपना है
    जो
अपरिचित हो गया है।
शहर,
टूक-टूक,
चिड़िया फट कर उखड़ कर
    सूऽऽऽरऽज (?)
आदमी पिघल कर वह रहे हैं
मिलों की धुएँली भँभास
    में
आकाश घुल गया है।
कहीं कोई कृष्ण या राम
ईसा, सलीब
और ऐसा ही कुछ
सोचने का समय (?) नहीं
उखड़े-रुखड़े
हवा में

अधजले पंखों वाले शब्द
चीत्कार रहे हैं।
मृत्यु जो थी अब नहीं है
जीवन जो था अब नहीं है
सिर्फ़ बच रही कँसैली गंध ?
या ऐसा ही कुछ
चिरायँध !
उफ़ नहीं—कोई भी शब्द अपना नहीं
क्वांरा—अनभोगे अर्थों का शब्द
पर कुछ है—जो भय, घुटन
कुछ ऐसा ही अनुभूतियों में बसा
क्राँ...क्राँ...क्राँ...क्राँ...
याँह...याँह...याँह...

२. ओ तुम

तुम खड़ी रहती हो परछाईं की तरह
जब सन्नाटे में दीवारें सरक कर
एक दूसरे से बतियाने लगती हैं।
तुम खड़ी रहती हो परछाईं की तरह
जब दोनों सेनाओं के घायल सिपाही
एक-दूसरे के ज़ख़्म का दर्द पूछते हैं।
तुम खड़ी रहती हो परछाईं की तरह
जब लोहे की मशीनें कराहने लगती हैं
थक कर।
तुम मौन की तरह क्या हो ?
जो मुझमें हो।
आज फिर डर लगा
बहुत-दिनों बाद तुम्हें फिर देखा

३. संत्रास

एक दुःस्वप्न
समूचे शहर पर
मटमैला एक बूढ़ा गुस्सैल आकाश
कुत्ते की भौंक-सा
निरन्तर खाँस रहा है ।
मकान एक दूसरे में भय से समा रहे हैं
सड़कें खड़ी हो गयी हैं
दरारें हाँफ रही हैं
अचानक खिड़की पर तुम मुस्कान की तरः
मुझे बहुत खूबसूरत लगीं ।
शहर के दिल को
एक गुस्सैल साँप पी रहा है ।
तुम धीरे-धीरे काली पड़ रही हो
तब भी तुम मुझे खूबसूरत लगीं क्या ?

४. मृत्यु

बँट गईं
उमठ ऐंठन भरी
रस्सी···साँस
आँख अटकी
रह गईं
कैसी फटी !

दिनेश्वर प्रसाद : दो कविताएँ

१. वन्य

अभी भी वन्य हूँ शायद ।

मेरे वात-अनुकूलित भवन के किसी कोने में
अरण्यानी छिपी बैठी ।
मेरी शोधशाला में
ब्रोमीन, गंधक, अम्ल गंधों पर
भटकती दूर से हर रात,
चम्पक की महक तिरती ।

विचारों को विचारित ही करूँ,
नहीं अनुभूतियाँ अनुभूत,
सदा ऐसा नहीं होता ।

सुबह के संगमर्मर में
सुनहली कोंपलें जब फूटने लगतीं
मुझे नवजन्म-सा लगता ।

क्षितिज की सुर्ख भट्ठी में
उगलता लाल-पीला धुआँ
सूरज गल, पिघल जाता
हृदय में कुछ द्रवित होता ।

नहीं मैं नलकियों में रूप का
द्रव जाँच पाता हूँ ।

तड़प को अणुवीक्षण से करूँ विश्लिष्ट,
उसके कीट का उपचार कर दूँ
नहीं धीरज है ।

धड़कते वक्ष को
मस्तिष्क कोषों में नहीं मैं बदल पाता हूँ ।

अभी भी आदमी, शायद ।

२. रुग्ण आँखों का दर्शन

दोपहर में भी गोधूलि : सूरज को हो क्या गया है ?
वह काँपता हुआ, भोर के चाँद-सा मलिन है ।
यहाँ-वहाँ अनचीन्हे धब्बे हैं ।
पेड़ की डालियों और फुनगियों पर
धुंध की गिलहरियाँ दौड़ रही हैं
और कंगारू पहाड़ की पीठ पर
एक कांपता हुआ बादल थिर होना चाहता है ।
यह कोलतारी सड़क
किसी मय शिल्पी की रचना-सी
जहाँ नीची वहाँ ऊँची
जहाँ ऊँची वहाँ नीची दीखती
            मेरे पैरों को छलती
उस मील पत्थर से सौ कदमों बाद
बुझते आलोक की खाई में
अचानक
लुढ़क गयी है ।

१. अस्तित्व

आसमानी धुंध में
खोयी हुई
बेहद उनींदी
दिशाएँ व दिशाओं के बोध
जमी पथरीली तहों से
फूट कर झरते
अनवरत
चेतना के स्रोत
फेनिल मोतिया बुल्ले
असंख्यों कुमकुमों-से चटख़ते
भवितव्य की क्षिति-संधि के उस पार तक
टूटी हुई माला सदृश
बेसब्र और अटूट
रेखा में बँधे चलते हुए
पदचिह्न ये
स्वरहीन चापों में सने—
अस्तित्व के संकल्प की मुहरें
जड़ीं हों
गिनतियों के पार तक मानों

२. सृजन वेला

वालुई फैलाव में
मरुदेश के

बस आप ही
सौ-सौ पछाड़
क्लिष्ट टूटन
तड़प की झकझोर
सौ-सौ बिजलियों-सी
कौंध और मरोर
न आह
न उफ़
न उसांस
न शिकवा
न शोर

२. पीड़ा अनबोली

अधखिंची कौंध-सी रेखा
जिसको मुश्किल से
नभ ने या क्षितिजों ने देखा
अधमिंची ग्रंथि-सी, मुट्ठी फ़ौरन ढीली
जैसे ज़ुबान पर आते
बातें पी ली

डॉ० रणधीर सिनहा : दो कविताएँ

१. अँधेरे में

अँधेरे की गुफ़ा में
छिपा चाँद कहीं कोई गीत गाये।
आकाश के तारे लगते हैं
काले सूप में चावल-दाने-से छितराये।

हवा धान के खेतों में खेलती हुई
चुन रही है अभी उगी-उगी बालियाँ।
कभी उतरती है खेत में—कभी
बैठती हैं मेंड़ पर—देती है तालियाँ।
सन्नाटे के रखवाले चौंकते हैं, फिर
खो जाते हैं बनते हुए अधपके सपने में।
इधर हवा है इतराती-छितराती
सुगन्ध को, व्यस्त है महज़ आप अपने नें

कुहासे की दीवार के उस पार से,
सूरज के छौने छिपे-छिपे चिल्लाते हैं।
"ठहरो री हवा! थोड़ी देर में हम आते हैं,
तेरी शरारत का सबक क्षण में ही सिखलाते हैं।"

ज्योति का पहरुआ खड़ा है—ओट में,
तटस्थ बना सोचता है—छँटना है असत्य को,
इस पृथ्वी पर आने की बारी है जिसकी—
टिकना है उसको अब—आँकना है सचाई के तथ्य को!

२. एक बिम्ब

मेरे हिया का बबूल
खड़ा है आरे-आरे।
तुम्हारी याद का चाँद
टिका है उसके ही सहारे।
मोह की चिड़िया उड़ती है
कभी बबूल और कभी चाँद-तल के किनारे।
ओ री रात!
टीस के ढेले न मार
भटक न जाए, कहीं चिड़िया तेरे मारे।

शकुन्त माथुर : चार कविताएँ

१. समुद्र की एक साँझ

अंगार लाल
जलता सूरज
समुद्र में उतरा ।
मैं
जलने लगी
फिर भी मिश्री के कूजे में बंद
सूरज की प्रीत सुनहरी अब
ज्यों
बाहों में भर ली ।
सूरज,
अब
डूबे न डूबे

२. जी मानता नहीं

धार बहुत छोटी है
जी मानता नहीं
धार बहुत बड़ी है
यह भी तो स्वीकारता नहीं ।
खिले खुले फूलों की
पाँति में लग जाऊँ
श्वेत कबूतरों-सी
ऊँचे आकाश में उड़ जाऊँ
पूरा खुल पाई हूँ, जी मानता नहीं ।
कली हूँ, यह भी तो स्वीकारता नहीं

पाँखों में इतनी शक्ति नहीं
जी मानता नहीं
पंख बहुत बड़े हैं
यह भी तो स्वीकारता नहीं।
एक लंबी क्यू चली चली चली जाती है
इन्हीं के पीछे मैं भी लग जाऊँ
जी मानता नहीं
अलग चलूँ यह भी तो स्वीकारता नहीं।

३. सावन के बादलों के बाद

सावन के बादलों के बाद
आकाश अब साफ़ है।
ठंडा है
वर्षा में भींग कर
मैल सब धुल पुँछ गया है
उजले शब्दों के घेरे हैं
प्यार के हेरे हैं
जो मेरे हैं
झूमर झुमकों सी लदी
मालती की बेल
ठुमक कर
ऊपर छत पर चढ़ गयी है
अमलतासी गंध ने सब कुछ चाँदनी में
लुटा दिया है।
इन बहुत सुखों पर
अपने वक्ष पर पहिरा हार
ही गड़ता है!

४. स्वयं की पहचान

अब मैं फूटना चाहती हूँ
तृप्ति अब टूटना चाहती है
मैं हज़ार बूँदों में बँटूँ
देखूँ
अपने ही सामने खड़े अपने हज़ार रूप
मैं चाहती हूँ
क्षण-क्षण बिखरना
एक दिन था
मधु भरा घड़ा संचित था
उँड़ेलते डर लगता था
अब
टूटना
फूटना, बनना, बिखरना
स्वयं
मैं
हूँ।

अजित 'पुष्कल' : पाँच कविताएँ

१. अधूरे स्वप्न की प्रतिक्रिया

घनी संवेदना के साथ
रूप को आकार देते
फट गईं दो सीपियाँ
अतलांत तम के बीच।

वह;
अंधी नदी के पार
एक ही जल हंसिनी थी
हम,
देख पाये मात्र
जिसकी पीठ
पत्थर सी
रोशनी के बिन्दु को वह
व्यथा फिर फिर
व्यर्थ ही थी।

२. जोड़ की संधियाँ

एक सूनी सड़क
एक अंधा
एक डफली
मूर्छित संगीत।

निरी सूनी रात
नील डायल
रेडियम के अंक
(टिम टिम)

कई आँखें दूर
ऊपर
अध खुली-सी ।

बिहँसती माँ
मोद आकुल
गोद में
बीमार बालक ।

ग्लोब के बीच
कई बिन्दु
उजड़ा शहर
कल्पित...
हर जगह अवशेष
धुँधले..
अधूरे ।

३. स्थापना का मूल्य

टहनी...
और टहनी के बीच
किसने दी
गली—
गंध की खींच ।

हिल रही है डाल
राग की अनुबिंब
निर्जन अकेले धूप में ।

मुझको फँसाये है
कहीं से,

एक ही तो जाल
हिल रही है डाल
इस बार सूरज
लगा दूँगा—
मैं तुम्हारे माल।

रात में दूँगा
पिरो निरे
पुच्छल सितारे...
नीलिमा फिर
उतर कर आकाश से
चूम लेगी
भूमि की मैली प्रभा।

४. तपती दोपहर

तपती दोपहर
सड़क पर
धूल के हाँफते गुबार
दीवालों पर सर पीटती
भटकती
हर्र हर्र हर्र हवा।

ज्वर पीड़ित धरती
वमन करती धूप
अधजली चिड़ियाँ।
एक दूसरे को काटती हुई
भावनाओं की
अनेकों...आकृतियाँ
व्यंग्य सहता हुआ मन
छटपटाती ज़िन्दगी।

बेचैन...

ग्लास टैंक की मछलियाँ
मुँह से टटोलती हैं
किनारे। ...और छोर—
टूटती नहीं पारदर्शी दीवाल
पानी गर्म है
इस पर भी—
सुलगा है गुलमुहर।

५. प्यार का स्पर्श

मैंने प्यार को छुआ
होठों से रँगा
हल्के किसी के
माथे के बीचोंबीच
जड़ दिया।

आसमान के बीच
उगते सूर्य की ओर
संकेत कर
मुखर हो उठी
आईने की मौन हँसी।

मैंने देखा
उसके पारदर्शी अंतराल में
चाँदनी के साथ
एक गुलमुहर
खिलखिला रहा था।

३. शहर

यह शहर,
कँगूरों, ऊँची इमारतों का—
शाम की धूप से,
गर्मी पा अपने शिखरों पर
जाग गया है ।

पर
यहाँ से
क्षितिज तक खिंची
कृत्रिम कन्धों की कतार
पर उठे
इस धूप की त्रिपाल
के छेदों से
झाँक कर देखो—
सैकड़ों लाखों पैर
वर्षा की निरन्तर बूँदों से,
ऊँची-ऊँची इमारतों के
अन्धकार भरे आगोश के कहीं नीचे
ख़ामोश टपटपाते हैं ।

उन सबको राह
और···
अब
इस डूबती शाम में
इस सबसे ऊँची उठी इमारत की
पश्चिमी दीवार को छोड़ कर
इन सबकी

इन सब
पराजित, जीर्ण, बुभुक्षित योद्धाओं की टूटती कतार-सी खड़ी
काली दीवारों की राह
वही एक है
वही—
        एक असफल रात
        और एक
        थका, थका सबेरा।

२. स्थिति

रात......।
टिमटिमाते किरोसिन लैम्प के प्रकाश में
'वीकली' के क्रासबर्ड के खुले पेज पर
सर रख सोये
महात्मा बुद्ध।
और डिक्शनरी के बेमाने शब्दों से भरे पेजों
के बीच दबी
पेन्सिल—
वही मैं हूँ।

३. सूर्य

मेरे हाथों की यह कलम
टूटी हुई है।
इससे मैं काव्य नहीं
साबुन के गुब्बारे बनाता हूँ
वे क्षण ठहर
फिर टूट जाते हैं।

प्रजापति शाह : तीन कविताएँ

तुम्हारा काव्य महान् है
अजर है
अमर है
पर देखो—
मेरे हर साबुनी गुब्बारे में
सूर्य है।
बोलो! तुम उसे कहाँ पाओगे?

जयानन्द झा : एक कविता

३. तीन मील

मील के पत्थर
सड़क पर से उठ
अंतरिक्ष में गड़... ।
तो पवनदूत के सुत
तुझे पाताल नहीं भेजेंगे

× × ×

वृत्त के सत्य में
शून्य के एक—
अनन्त पा लेने दे,
तो वामन के चरण
तुझे भूल नहीं जायेंगे

× × ×

भविष्य के खेत में
कटी फसलों की खूँटी
काल के पिछवाड़े
जो झाँक कर न देखें... ।
तो अनागत के राम
तुझे छू कर ही जायँगे ।

अयोध्या प्रसाद : दो कविताएँ

१. उल्कापात

दस और चार वर्षों का संयोग (ने),
प्रथम वयः संधि की संज्ञा पाई ।
क्षणों का उल्कापात हुआ
अनजान गति-शक्ति के संघर्षण में ।
उल्का के तत्व आकाश में विलीन हुए
संधि-सतह, अतएव, अनावृत रह गई ।

आज मेरे पास का जो अर्जन है,
दस वर्ष पूर्व, वयःसंधि का परिग्रह ही,
दस जोड़ चार बराबर चौदह का मूलधन—
तत्व और काल के रसायनिक परिवर्तित रूप ।

२. किनारे-किनारे

······और समुद्र के किनारे-किनारे गाड़ी चलती है ।
लॉस एंजल्स् [—सबसे बड़ी फ़िल्म इन्डस्ट्री, हालिवुड (बाम्बे ?)] से
सानफ्रांसिसको जाती है ।
पहाड़ों पर, रॉकी के पश्चिमी ढाल पर
मकान बन गए हैं—हवाखोरी के मकान ।
(राँची में भी हैं ।
वे ?
नहीं, —शायद ।)— और कैलिफोर्निया के किनारे-किनारे
मनोरम बाग लगे हैं ।
(उन आँखों के किनारे... । नहीं, बरौनियाँ ।)—
जिन्हें खारा पानी प्रतिदिन धो देता है ।
फल लगते हैं खूब ।

परन्तु कोकन-तट के नारियल के फल नहीं,—
पानी से भरे, बूँदों के घड़े ।
समुद्र से होकर आने वाली गर्म, आर्द्र हवा से वर्षा — ।
[वर्षा से भींगा, दरवाज़े से आनेवाली हवा से
खिड़कियों से उड़ने वाला कृष्णा (किसी कृष्णा, सुनीता, सुजाता, मालती)
का आँचल

(जैसे राँची की ऊपर-नीचे होनेवाली सड़क···)
सड़क के किनारे-किनारे जाते हुए रिक्शे के पर्दे से
निकल कर फुर्-फुर् उड़ रहा है ।
कोर ?
नहीं, किनारा ।]
कैलिफोर्निया के किनारे-किनारे—
फिर बादल का किनारा, लटक गया—
(सामने खुली हुई खिड़की से लटकती हुई साड़ी का किनारा
खुल कर गिर गया है ।)
—कैलिफोर्निया के किनारे
मानचित्र पर,
मेरे किनारे—
उन बरौनियों के किनारे ।

१. नदी मूल

नदी मूल में
जहाँ रेंगते हुए सर्पों का पहरा रहता है
क्या तुम फावड़ा लेकर जा सकते हो ?
वहाँ पेड़ों का अँधेरा कुंज है
और भीतर जाने का कोई प्रवेश-द्वार नहीं है
तुम्हें उलझी हुई डालियों को काट कर
रास्ता बनाना पड़ेगा,
और भीतर झाँकते ही
सर उठा कर
वयस्क भुजंग फुफकारेंगे।
जब वे तुम्हारी आँखों से आँखें मिला
तुम्हारी ओर अचूक प्रश्न-मुद्रा में देखेंगे
तब तुम उनसे क्या कहोगे ?

नदी मूल
असंख्य झाड़ियों, गिरी हुई लताओं
और केंचुलों के गुज्झर से
अवरुद्ध हो गया है
और उनके बीच से
सिर्फ़ एक पतली छनी हुई धारा
पेड़ों, लताओं को सींचती हुई बहती है।

क्या तुम्हारे पास वह मणि है
जिसे तुम तत्काल फेंककर
कुंज में
शीश-महल की तरह उजाला कर सकते हो ?

बेचैन...

ग्लास टैंक की मछलियाँ
मुँह से टटोलती हैं
किनारे। ...और छोर—
टूटती नहीं पारदर्शी दीवाल
पानी गर्म है
इस पर भी—
सुलगा है गुलमुहर।

३. प्यार का स्पर्श

मैंने प्यार को छुआ
होठों से रँगा
हल्के किसी के
माथे के बीचोंबीच
जड़ दिया।

आसमान के बीच
उगते सूर्य की ओर
संकेत कर
मुखर हो उठी
आईने की मौन हँसी।

मैंने देखा
उसके पारदर्शी अंतराल में
चाँदनी के साथ
एक गुलमुहर
खिलखिला रहा था।

१. शहर

यह शहर,
कँगूरों, ऊँची इमारतों का—
शाम की धूप से,
गर्मी पा अपने शिखरों पर
जाग गया है ।

पर
यहाँ से
क्षितिज तक खिंची
कृत्रिम कन्धों की कतार
पर उठे
इस धूप की त्रिपाल
के छेदों से
झाँक कर देखो—
सैकड़ों लाखों पैर
वर्षा की निरन्तर बूँदों से,
ऊँची-ऊँची इमारतों के
अन्धकार भरे आगोश के कहीं नीचे
खामोश टपटपाते हैं ।

उन सबको राह
और...
अब
इस डूबती शाम में
इस सबसे ऊँची उठी इमारत की
पश्चिमी दीवार को छोड़ कर
इन सबकी

इन सब
पराजित, जीर्ण, बुभुक्षित योद्धाओं की टूटती कतार-सी खड़ी
काली दीवारों की राह
वही एक है
वही—
एक असफल रात
और एक
थका, थका सबेरा।

२. स्थिति

रात......।
टिमटिमाते किरोसिन लैम्प के प्रकाश में
'वीकली' के क्रासवर्ड के खुले पेज पर
सर रख सोये
महात्मा बुद्ध।
और डिक्शनरी के बेमाने शब्दों से भरे पेजों
के बीच दबी
पेन्सिल—
वही मैं हूँ।

३. सूर्य

मेरे हाथों की यह कलम
टूटी हुई है।
इससे मैं काव्य नहीं
साबुन के गुब्बारे बनाता हूँ
वे क्षण ठहर
फिर टूट जाते हैं।

प्रजापति शाह : तीन कविताएँ

तुम्हारा काव्य महान् है
अजर है
अमर है
पर देखो—
मेरे हर साबुनी गुब्बारे में
सूर्य है।
बोलो! तुम उसे कहाँ पाओगे?

जयानन्द झा : एक कविता

३. तीन मील

मील के पत्थर
सड़क पर से उठ
अंतरिक्ष में गड़... ।
तो पवनदूत के सुत
तुझे पाताल नहीं भेजेंगे

× × ×

वृत के सत्य में
शून्य के एक—
अनन्त पा लेने दे,
तो वामन के चरण
तुझे भूल नहीं जायेंगे

× × ×

भविष्य के खेत में
कटी फसलों की खूँटी
काल के पिछवाड़े
जो झाँक कर न देखें... ।
तो अनागत के राम
तुझे छू कर ही जायँगे ।

१. उल्कापात

दस और चार वर्षों का संयोग (ने),
प्रथम वयः संधि की संज्ञा पाई ।
क्षणों का उल्कापात हुआ
अनजान गति-शक्ति के संघर्षण में ।
उल्का के तत्व आकाश में विलीन हुए
संधि-सतह, अतएव, अनावृत रह गई ।

आज मेरे पास का जो अर्जन है,
दस वर्ष पूर्व, वयःसंधि का परिग्रह ही,
दस जोड़ चार बराबर चौदह का मूलधन—
तत्व और काल के रसायनिक परिवर्तित रूप ।

२. किनारे-किनारे

……और समुद्र के किनारे-किनारे गाड़ी चलती है ।
लॉस एंजल्स् [—सबसे बड़ी फ़िल्म इन्डस्ट्री, हालिवुड (बाम्बे ?)] से
सानफ्रांसिसको जाती है ।
पहाड़ों पर, रॉकी के पश्चिमी ढाल पर
मकान बन गए हैं—हवाखोरी के मकान ।
(राँची में भी हैं ।
वे ?
नहीं, —शायद ।)— और केलिफोर्निया के किनारे-किनारे
मनोरम बाग लगे हैं ।
(उन आँखों के किनारे… । नहीं, बरौनियाँ ।)—
जिन्हें खारा पानी प्रतिदिन धो देता है ।
फल लगते हैं खूब ।

परन्तु कोकन-तट के नारियल के फल नहीं,—
पानी से भरे; बूँदों के घड़े ।
समुद्र से होकर आने वाली गर्म, आर्द्र हवा से वर्षा — ।
[वर्षा से भींगा, दरवाज़े से आनेवाली हवा से
खिड़कियों से उड़ने वाला कृष्णा (किसी कृष्णा, सुनीता, सुजाता, मालती)
का आँचल
(जैसे राँची की ऊपर-नीचे होनेवाली सड़क···)
सड़क के किनारे-किनारे जाते हुए रिक्शे के पर्दे से
निकल कर फुर्-फुर् उड़ रहा है ।
कोर ?
नहीं, किनारा ।]
केलिफोर्निया के किनारे-किनारे—
फिर बादल का किनारा, लटक गया—
(सामने खुली हुई खिड़की से लटकती हुई साड़ी का किनारा
खुल कर गिर गया है ।)
—केलिफोर्निया के किनारे
मानचित्र पर;
मेरे किनारे—
उन बरौनियों के किनारे ।

१. नदी मूल

नदी मूल में
जहाँ रेंगते हुए सर्पों का पहरा रहता है
क्या तुम फावड़ा लेकर जा सकते हो ?
वहाँ पेड़ों का अँधेरा कुंज है
और भीतर जाने का कोई प्रवेश-द्वार नहीं है
तुम्हें उलझी हुई डालियों को काट कर
रास्ता बनाना पड़ेगा,
और भीतर झाँकते ही
सर उठा कर
वयस्क भुजंग फुफकारेंगे।
जब वे तुम्हारी आँखों से आँखें मिला
तुम्हारी ओर अचूक प्रश्न-मुद्रा में देखेंगे
तब तुम उनसे क्या कहोगे ?

नदी मूल
असंख्य झाड़ियों, गिरी हुई लताओं
और केंचुलों के गुज्झर से
अवरुद्ध हो गया है
और उनके बीच से
सिर्फ़ एक पतली छनी हुई धारा
पेड़ों, लताओं को सींचती हुई बहती है।

क्या तुम्हारे पास वह मणि है
जिसे तुम तत्काल फेंककर
कुंज में
शीश-महल की तरह उजाला कर सकते हो ?

मैंने तो अभी यात्रा शुरू की है !
थोड़े-से सपनों का संबल है,
उसको बिखराऊँ कैसे ?
उसीके बल पर
मुझे बहुत दूर जाना है !
जो होनेवाला है,
उसी की ताल-लय पर
अपने चरणों को आगे बढ़ाना है !

३. दो ही दिन बीते हैं

दो ही दिन बीते हैं,
लगता है,
कितने युग बीत गये !

दो ही दिन पहले
मैं मिलन के किनारे से
मधु-घट भर लाया था !
उल्लसित उमंगों का जीवन लहराया था !
एकाकीपन के लघु-लघु छिद्रों से रिस कर
इतनी ही जल्दी
सब मधु के घट रीत गये !

चंचल मन का पहिया
सूरज औ चन्दा के साथ नहीं चलता है,
मिनटों को, घण्टों को,
दिवसों को, रातों को,
सबको ही छलता है ।
घड़ियों के क्षण हारे,
मन के क्षण जीत गये !

४. स्मृतियाँ

बहुत दिनों के बाद
तुम्हारा ख़त आया है!
दिन भर ऊष्मा रही,
शाम को बादल ने जल बरसाया है!

बहुत दिनों के बाद,
तुम्हारी स्मृतियाँ आयीं!
बहुत दूर से कहीं किसी ने
जानी-पहचानी कोई रागिनी सुनायी!

५. मोड़ पर विदा

मोड़ पर कब तक रहेंगे खड़े हम असहाय?
एक क्षण में डूबते-तिरते विवश, निरुपाय?
विदा लो, जाओ, कहीं ऐसा न हो जाए,
भावना की धार पर अस्तित्व ही बह जाय!

१. अशब्दों का नाता

पीछे है हर बुझते पल का नया अन्धकार
आगे हर क्षण का उठा छाया ग्रह किमाकार
रास्ता गया है
अंतरालों के भीतर से

जो कुछ है छूते ही दूर चला जाता है
जो कुछ नहीं है बिना छुआ रहा जाता है

तैरते चले जाते चेहरे सब पीछे को
हर अनुभव लगता है मिथ्या की
चीत्कार

आगे अनभोगे यथार्थों की भटकन है
झीनी फिल्मों सी अस्मिताएँ—
स्पर्श पार

गहरी समाधियाँ पड़ी हैं अस्तित्वों पर
शब्दों को बाँधे अशब्दों का नाता है
जितना जो भंगुर है सत्य के समीप वही
यह अशेष से अशेष तक की परिभाषा है।

कितनी मरीचिकाएँ अटकी हैं विराम बनी,
कितनी सत्ताएँ सिद्ध हुईं मिटने के बाद
किसी राज-उत्सव में
भटकते अपरिचित-सा
मैं ही खुद लगता हूँ अपनी सुदूर याद।

२. दो पाटों की दुनियाँ

चारों तरफ़ शोर है
चारों तरफ़ भरा पूरा है
चारों तरफ़ मुर्दनी है
भीड़ें और कूड़ा है

हर सुविधा
एक ठप्पेदार अजनबी उगाती है
हर व्यस्तता
और अधिक अकेला कर जाती है

हम क्या करें
भीड़ और अकेलेपन के क्रम से
कैसे छुटें

राहें सभी अंधी हैं
ज़्यादातर लोग पागल हैं
अपने ही नशे में चूर
वहशी हैं या ग़ाफ़िल हैं

खलनायक हीरो हैं
विवेकशील कायर हैं
थोड़े से ईमानदार
लगते सिर्फ़ मुजरिम हैं

हम क्या करें
अविश्वास और आश्वासन के क्रम से
कैसे छुटें

तर्क सभी अच्छे हैं
अन्त सभी निर्मम हैं
आस्था के वसनों में
कंकालों के अनुक्रम हैं
प्रौढ़ सभी कामुक हैं
जवान सब अराजक हैं
बुद्धिजन अपाहिज हैं
मुँह बाए हुए भावक हैं

हम क्या करें
तर्क और मूढ़ता के क्रम से
कैसे छूटें

हर आदमी में देवता है
और देवता बड़ा बोदा है
हर आदमी में जन्तु है
जो पिशाच से न थोड़ा है

हर देवतापन
हमको नपुंसक बनाता है
हर पैशाचिक पशुत्व
नए जानवर बढ़ाता है

हम क्या करें
देवता और राक्षस के क्रम से
कैसे छूटें।

३. समाधि में यात्रा

शब्द से न बिंधने वाले
वर्ण-शेष एक शून्य में
हो आया हूँ
मैं कई कल्पों में
दो क्षण को—
    जैसे किसी अटूट
    महाद्वीपीय यात्रा में
    हर रोम में
    वेग की गूँज
        सीसे-सी भर जाय
        बाहर की चीज़ें
        दिख कर भी अदेखी रहें
क्योंकि वही एक जैसे जीवधारी
वैसे ही घर, मकान
बस्तियाँ, रोशनी
फिर-फिर पुनरुक्ति से
आते हुए पड़ाव
किसी अस्तित्व के 'होने' का आभास
फिर दूर
फिर पास
जैसे यह सारी सृष्टि
यह अशब्द, अन्तहीन अन्धकार
बार बार।

४. देश-वेध

......और तब
उस आकस्मिक-निमिष में
मेज़ की सिलवटों में
एक अपार सिंधु उमड़ा

सब कुछ निर्गति था
निस्तब्ध था
न हवा थी
पर कहीं होगी
शायद अतलांतिक के उत्ताल संकट में
या यहाँ
इसी एक सघन क्षण के
कैन्द्र-बीज में बँधी......

५. साक्षात्कार

हर बार नए-नए
अनदेखे काँटों के कपड़े पहिने मैंने
हाथ बाँध फिर भी
अस्पृश्य-सा खड़ा रहा
प्रतिमा पर बोली नहीं।

धुंधों में डूबे हुए
कितने बिम्बफूलों को
तोड़ कर लाया मैं
चमकीली थालियों में
रखता रहा सामने
प्रतिमा पर डोली नहीं।

सत्यदेव 'राजहंस' : छह कविताएँ

(निर्देश : अंतिम दो रचनाओं में कुछ कविताओं से 'शून्यावलांशिक रसानुभूति' सानुपातिक-प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर संचयित कर ली गई है; जिसका तत्व-बोध अनन्तस्तरीय हो सकता है ।)

१

यहाँ 'कुछ' ऐसा है···
जहाँ चिनगारी से भी सिगरेट सुलगाना,
...मना है;—
"........... .... ।"
अगर 'कुछ' ऐसा, जो है,
...नकारा गया;
तब शायद वह 'फक्क' हो सकता है ।
और, हम दोनों महसूस करेंगे,
जैसे, एक लम्बी-काली सुरंग में,
दो तूफ़ानी-चीखती रेलगाड़ियाँ;
नगरों से बचकर—
...टकरा गईं हैं ।
बाद में क्या हुआ ?......
महसूस करने के बाद,
हम 'कुछ' ऐसा जो होगा—
देखने के लिए
वहाँ......
उपलब्ध नहीं होंगे ।

× × ×

यहाँ 'कुछ' ऐसा है...
जहाँ हमको स्वयं से बाहर भी उलिच जाना,
...मना है;—
"............................. ।"

अगर 'कुछ' ऐसा, जो है,
...नकारा गया;
तब शायद वह 'धक्' हो सकता है !
और, हम दोनों महसूस करेंगे,
जैसे, एक गहरे-काले अंध-कूप में,
दो नंगी ताम्रवर्णी आवाज़ें;
शिकारियों से बचकर—
...कुदक गई हैं।
बाद में क्या हुआ ?......
महसूस करने के बाद,
हम 'कुछ' ऐसा जो होगा—
सुनने के लिए
वहाँ......
उपलब्ध नहीं होंगे।

२

सड़कें...
सजी-सँवरी।
अश्व-पदचाप से मुक्त,
एक बिछुड़ा लोहे का;
अतीत अमृत...
टपकाता—
चन्द्राकार टुकड़ा।
गर्म-ठंडी रातों की,
परतों में बंद;
ऋषियों की...
ध्यान-मग्नता की पायल-झंकार !

भटकावों में व्यस्त,
चूड़ीदार गोल विन्दु-गर्भ में
शताब्दियों से आन्दोलित
"हाय ....हाय ।"
रॉकेट का एक खंडित,
अं......ग;
शक्ति का अजायबी प्रतीक;
लीक से पृथक यह लीक ।

३

चौरासी लाख योनियाँ,
सवार हैं—
चेतना की······
·········लम्बी;—
बहुत-लम्बी रेलगाड़ी में ।
ग्राम-कस्बे-नगर,
द्वीप-देश-महाद्वीप,
गगन-पाताल,
झील······ताल,
वन······उपवन;

सागर सरितायें···महासागर,
पर्वत-पठार-रेगिस्तान;
सभी रेलगाड़ी के डिब्बे हैं ।
एक तार मोक्ष का,
हर डिब्बे में अनुस्यूत है
जिससे संकट में,
जंज़ीर खिंचती है ।

प्रत्येक विराम-स्थल पर,
चेतन-रूप मिलते हैं;
जितने चढ़ते हैं,
उतने उतरते हैं ।

प्रकृति...... !
संतुलन —तुला,
...को;
सीधा रखती है ।
फिर क्यों,
पासंग रख गड़बड़ी करते सब ?
जबकि—
रैलगाड़ी में,
सभी सवार होते है ।
सभी...
रैलगाड़ी से उतरते हैं ।

४

'पॉकेट में टूटे रॉकेट,'
टूटा कभी;
वही 'टूटा' जो नहीं ।
'कण्व' ऋषि के आश्रम में,
बॉब्ड हेयर;
यह 'वही' जो नहीं ।।
अन्दर 'कैन्सर' हिमालय,
साँस गली;
बही 'नदी' जो नहीं ।।।

मिटा 'साड़ी' का सूर्य,
धब्बा धुला;
फिर 'नयी' जो नहीं ।।।।

६

सुबह से शाम तक,
शाम से सुबह तक;
नारंगी-नुमा रंगमंच पर
हमें—
सुनहली-चाँद-सी रोशनियों की,
केन्द्रित-चकपकाहट में;
नाचना पड़ा ।

उलट-पुलट सभ्यताओं की खुदाई से,
प्राप्त... ......
पथरीले, टूटे अक्षरों से वाष्पित;
मूर्ति-कला, शिलालेखन की—
खंडित भंगिमाओं से व्यंजित,
......संवेदना का,
हमने पान किया ।

बिजली गिरने के बाद की,
तड़पड़ाती कँपकँपी को समेटा ।
किनकिनाती अनुभूतियों के घुँघरुओं में
धागे की तरह पिरोया ।
समर्पित-पैरों के बाद की,
छटपटाती-छनछनी में लपेटा ।

फिर भी होश बाक़ी रहा ।
रंगमंच अँधेरे में धँसा ।
...पर्दा गिरा,
गिर...गया ।
फिर कुछ—
छम्-छम्-छ...न्...न्...न् छन्
नेपथ्य में मेघों का,
तुतला कलरव ।
आहट से......
वायु गर्भित,
चेतना सर्पित ।
अभिनय...नृत्य,
नृत्य...अभिनय;
......केवल ।
इतनी चंचलता—
कि सब कुछ स्तंभित ।
वातावरण !
...चौकोर ।
यम-नियम-झूठी मर्यादों की,
लौह-सींवनों से सिली;
धड़कनें ।
सब कुछ बाहर
चुम्बक-पत्थर की दीवारों में,
जकड़ा...
खिंचा-खिंचा,
—पहरा ।
बन्द......बन्द ।
घाव गहरा,
दर्द बहरा ।

पारा ही पारा,
अनंत सीमा-भंगता।
पोंछ दिया ज्योति-क्षिप्रता ने
गीली आकृतियों के बनावों को।
सब 'गा'...'था ...'है,'
......यथापूर्व।
इनके परे...भी रसांकुरित
...रश्मि-दूर्व।

६

एक ओर पृथ्वी...
धूप के रेशम से.
उजाले की जाली बुनती है।
दूसरी ओर पृथ्वी...
चिकटन की कालिख पुती परत
अपने तन पर ओढ़ती है।
मध्य में बे-सहारा!
उपेक्षित!
स्वालंबन की नोंक पर जड़ा,
एक क्षण त्रिशंकु;
सूर्यपिंड से सूत्रांकित है।
....
एक बिजली का लट्टू झपकता है,
इस झपक में,
कोई मेड़ों से छीन लिया जाता है।

अतलांतिक और प्रशान्त
दोनों
अ...श...ा...न...त ।
लहरों में हिंडुलाते रामसेतु ।
भीड़...
हर व्यक्ति एक अजायबघर
हर कोने में संगृहीत;
सभ्य पैरों के रंगे नाखूनों के ढेर ।
खोपड़ियों में मकड़ियों के जाले,
...............तन गए हैं ।
कत्थई दाँतों की पंक्तियाँ—
तिड़क कर हँसती हैं ।
मृगनयनी............ !
चमकदार, छेदनुमा-वातायन,
झेलम का अश्रु-प्रवाह;
...भाप बना,
पेरिस पर छा गया ।
बर्लिन—
दो फेफड़ों में कटा जिस्म,
हृदय का रक्त-चाप...
...ग़ायब ।
बच गया लंदन,
चारों ओर क्रन्दन ।

....

मैं जिस केन्द्र पर बिंधा,
वह निस्तेज होकर,
सृजन-आवृत्तों को उपजाने की क्षमता;
...खो बैठा था ।

सभ्यताओं के बारूदी खादों को फाँककर
...भूमंडल ऐंठा था।
सूरज ने जिस बिलबिलाहट से
अपना तन-खंड फेंका था।
उसे; फिर वापस खींच लिया।
अपने ताप-महालयात्मक सप्तम में,
ठिठुरी-सी मात्रा को जोड़ दिया।
आख़िरी कोरस!
यहाँ...वहाँ,
धुआँ...धाड़;
पृथ्वी—मटर का दाना,
आसमान......भाड़।
अब हमें विस्तृत जलराशि को जमाना है,
बुरी तरह फैले पहाड़ों को नरमाना है।

....

सब परिधियाँ टूट सकती हैं,
किन्तु, मिटाने का अधिकार;
उस अपाहिज मुस्कान को है
जो, क्रास की चमक लिए,
गिरजे पर लगी।
टूटे शोर के टुकड़ों को,
जोड़ कर भगी।
शीशे की नली में
सुदर्शन-चक्रों की
तमतमाती तेज-बूँद।
पूर्वाग्रहों के संताप से मुक्त,
अपने आग्रहों से विच्छिन्न।

सापेक्षतावादी आतंक का,
मूक-बहरा--धुकधुकाता,
चक्षुहीन-कर्णारोपित;
—अन्धविश्वास।
भयाक्रान्त!
—विवश होने को क्लांत।
यह आग अब बर्फ़-सी ठंडी,
यह बर्फ़ अब आग की मंडी।
सब 'कुछ' कहाँ बदला?
हमें लगा;
'बदला'।
............................!
दो अर्थ-विरामों में बन्द
आदि...अन्त,
सीमित-भ्रम,
एक ही क्रम।
सूरज....................
नीलान्ती-सीपी में,
झभकारता गोल मोती।
× × ×
पुरानी ईंटों से
बारीक सीलनसने;
क्षय-कण छीज रहे हैं!
अनुभव के इतिहास-कोशों में
विक्लांति लग गई है।
तुमने जो साँस डरकर,
अधर पर धरी;
उसके पास रहती है,
निर्दिशायामी-परी।



प्रकाशकीय

•

लय–२

•

संपादक आमंत्रित। योजना
आमंत्रित।

प्रतिभावान कवि और काव्य-प्रस्तावना (या, आगामी अंकों के अनुसार विधाकार और विधा-प्रस्तावना) का दंभ लय को नहीं है,

'लय'–प्रतिभावान नियोजक, विचारक व्यक्तित्व को, जो ऐसा जानते-मानते हैं कि उनके पास कथ्य है और प्रमाण है; एक अवसर अपेक्षित है— यथाशक्ति-सुविधा उन्हें मंच देगा।

(प्रेरणा के लिए आभार श्री शिवचन्द्र शर्मा, प्र. सं. दृष्टिकोण)

'लय' के हर अंक का संपादक अपने विचार, अपनी योजना के अनुसार नाम और अंक संख्या (यथा-'लय''''''''''') छोड़कर, शेष के लिए स्वीकृत योजना से अनुशासित, स्वतंत्र होगा।

उदाहरण के लिए :

'लय–१' ने आपके समक्ष महज़ आठ पृष्ठ (पृ० १ से ८) और शेष के सूत्रधार-व्यक्तित्व को मंच दिया है।

संयोजक–भुवनेश्वर प्रसाद सिंह,
अभिज्ञान-प्रकाशन,
राँची

मुद्रक : राष्ट्रीय प्रेस, राँची—१९६५